Digitized by eGangotri

सभ्यता और संस्कृति

तथा अन्य निबंध

लेखक

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

148

19721

प्रकाशक

ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

316
A154

Digitized by eGangotri

सभ्यता और संस्कृति

तथा अन्य निबंध

[सभ्यता, संस्कृति, कला और साहित्य-संबंधी विचार]

लेखक

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डी. लिट्

ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

19721
2.00
5.1.1958

द्वितीय संस्करण—१९५५

मूल्य २)

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

मुद्रक—अयोध्याप्रसाद झा, हिन्दुस्तानी प्रेस, पटना—४

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विषय-क्रम

१—सभ्यता और संस्कृति	३
२—संस्कृति और साहित्य	१२
३—संस्कृतियों का सङ्गम	१६
४—भारतीय संस्कृति की देन	२७
५—नीति-मार्ग पर दृढ़ रहना आवश्यक है	४२
६—अन्त:करण की पवित्रता से ही उन्नति संभव	४६
७—शतायु होने की प्रार्थना	५३
८—दीपावली	६१
९—चित्रकला और मूर्तिकला	६६
१०—सौन्दर्य-सृष्टि में प्रकृति की सहायता	७६
११—कला का प्रयोजन	८४
१२—देवनागरी लिपि	९२
१३—तुलसीदास का स्मरण	१०५
१४—रवीन्द्रनाथ की आशा-भूमि	१११
१५—साहित्य की साधना	१२२
१६—पुण्य पर्व	१२८

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सभ्यता और संस्कृति

तथा अन्य निबंध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सभ्यता और संस्कृति

हिन्दी में सभ्यता और संस्कृति शब्द नये हैं। इनका असली अर्थ समझने के लिए अंग्रेजी के 'सिविलिजेशन' और 'कल्चर' शब्दों की जानकारी आवश्यक है। वस्तुतः सभ्यता और संस्कृति के धातुगत अर्थ इन शब्दों के व्यावहारिक अर्थ के स्पष्ट करने में विशेष सहायक नहीं होंगे। अंग्रेजी में 'सिविलिजेशन' शब्द एक सामाजिक परिस्थिति का बोधक है। 'सिविलिजेशन' से सामाजिक व्यवस्था के चार उपादानों का ज्ञान होता है—(१) आर्थिक व्यवस्था, (२) राजनीतिक संगठन, (३) नैतिक परम्परा, और (४) ज्ञान एवं कला का अनुशीलन। अस्तव्यस्तता, सशंकता और अरक्षणीयता का जहाँ अन्त होता है, 'सिविलिजेशन' या सभ्यता वहीं से शुरू होती है। क्योंकि जब भय का भाव दब जाता है और मनुष्य की कुतूहल वृत्ति और रचनात्मक प्रवृत्ति बंधनहीन होती है, तभी मनुष्य पशुसुलभ प्राकृतिकता से ऊपर उठकर समझौते और सहानुभूति के जीवन की ओर अग्रसर होता है। किसी जाति या समाज की सभ्यता की पूर्णता इस बात से जानी जा सकती है कि उक्त समाज या जाति के व्यक्ति कहाँ तक अस्तव्यस्तता और सशंकता से मुक्त हो सके हैं।

सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का। सभ्यता की दृष्टि वर्तमान की सुविधा-असुविधाओं पर रहती

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

है, संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्श पर; सभ्यता नजदीक की ओर दृष्टि रखती है, संस्कृति दूर की ओर; सभ्यता का ध्यान व्यवस्था पर रहता है, संस्कृति का व्यवस्था के अतीत पर; सभ्यता के निकट कानून मनुष्य से बड़ी चीज है, लेकिन संस्कृति की दृष्टि में मनुष्य कानून के परे है; सभ्यता वाह्य होने के कारण चंचल है, संस्कृति आन्तरिक होने के कारण स्थायी। सभ्यता समाज को सुरक्षित रखकर उसके व्यक्तियों को इस बात की सुविधा देती है कि वे अपना आन्तरिक विकास करें। इसीलिए देश की सभ्यता जितनी ही पूर्ण होगी, अर्थात् उसकी व्यवस्था जितनी सहज होगी, राजनीतिक संगठन जितना ही पूर्ण होगा, नैतिक परम्परा जितनी ही विशुद्ध होगी और ज्ञानानुशीलन की भावना जितनी प्रबल होगी, उस देश के वासी उसी परिणाम में सुसंस्कृत होंगे। इसीलिए सभ्यता और संस्कृति में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि सभ्यता और संस्कृति दो परस्पर विरोधी चीजें हैं। जिस प्रकार पुस्तक के पन्ने के दो पृष्ठ आपाततः एक दूसरे के विरुद्ध दिखते हुए भी वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार सभ्यता और संस्कृति भी एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों का पारस्परिक संबंध इतना घनिष्ठ है कि कभी-कभी एक के अर्थ में दूसरे का प्रयोग पंडितजन तक कर दिया करते हैं। कभी-कभी अपने देश की संस्कृति के नाम पर असत्य और अर्द्ध सत्य सिद्धान्तों का समर्थन किया जाता है। और, और तो और; अपने देश की संस्कृति के नाम पर किसी अन्य देश की सभ्यता, धर्म, दर्शन और संस्कृति पर भद्दे आक्षेप भी किये जाते हैं; पर ये बातें संस्कृति के विरुद्ध हैं। कोई भी सुसंस्कृत आदमी—अगर वह सचमुच सुसंस्कृत है—किसी असत्य या अर्द्ध सत्य सिद्धान्त का इसीलिए समर्थन नहीं कर सकता कि उसे उसके पूर्वजों ने मान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लिया था। औरों की कुत्सा तो वह कर ही नहीं सकता। विजित जाति के व्यक्तियों में जातीय चेतना प्रबल होती है, तो प्रायः अपने देश की संस्कृति के नाम पर वे विजेता की संस्कृति का मजाक उड़ाया करते हैं। इटली में ऐसा ही हुआ था, भारतवर्ष में ऐसा ही हो रहा है। यह स्वाभाविक है। आधुनिक भारतीय साहित्य में ऐसी अनेक बातों का समर्थन भारतीय संस्कृति के नाम पर किया जा रहा है, जिसके लिए पर्याप्त चिन्तन की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष का शीर्ष-स्थानीय समालोचक बड़े-बड़े यूरोपियन दार्शनिकों की युक्ति का अवतरण करते हुए इतना कहकर सारा तर्क समेट लेता है कि भारतीय संस्कृति इन बातों को पसन्द नहीं करती। हिन्दी के दो विद्वानों में महीनों तक एक मनोरञ्जक विवाद चलता रहा। दोनों ही पंडित दो विरोधी सिद्धान्तों को भारतीय संस्कृति के अनुकूल सिद्ध करना चाहते थे, और इस चाहने का अर्थ यह था कि जो कुछ वे कह रहे हैं, वही ठीक है। यदि इस बात का पक्का सबूत दिया जा सके कि कोई सिद्धान्त भारतीय संस्कृति के अनुकूल है तो उसका श्रेष्ठ होना निर्विवाद मान लिया है; पर यह क्या अच्छी बात है? क्या भारतीय होने से ही कोई चीज ऊँची और भारतीय होने से ही नीची हो जाती है? क्या यह भारतीय श्रोता के राष्ट्रीय भावावेश को उत्तेजित करके उसे उदासीन कर देना नहीं है? देखा जाय।

२

भारतीय संस्कृति का अर्थ क्या है? जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, सभ्यता शब्द की भाँति संस्कृति शब्द भी अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द के तौल पर नया गढ़ लिया गया है। स्वयं 'कल्चर' शब्द भी बहुत पुराना नहीं है। कहते हैं, अंग्रेजी के प्रसिद्ध प्रबन्ध-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लेखक बेकन ने इस शब्द को 'मानसिक खेती' के अर्थ में प्रथम बार प्रयोग किया था। जो हो, भारतीय संस्कृति शब्द हिन्दुस्तान में नया है और अन्य अनेक बातों की तरह इसका इस अर्थ में प्रयोग करना भी हमने विदेशियों से सीखा है। पुराना 'संस्कृति' शब्द इस नये अर्थ में पहले प्रयुक्त नहीं होता था। अंग्रेज शासकों के जाति-भाई जब पहले-पहले इस महादेश में आये, तो उन्हें यह देश असभ्य-सा लगा। सभी चीजें अस्त-व्यस्त-सी नजर आयीं। जब धीरे-धीरे इनका परिचय अधिक घनिष्ठ हुआ, तो उन्होंने देखा कि यहाँ अदालत और फौज तो हैं, पर भीतरी और बाहरी आशंकाओं से प्रजा की रक्षा नहीं हो रही है; विद्वान् और धार्मिक तो हैं, पर विद्या और धर्म साधारण जनता तक नहीं पहुँचे हैं। अत्यन्त निम्न समाज में विद्या या ज्ञान बहुत-कुछ पशुओं के 'इन्सटिङ्क्टिव' ज्ञान की तरह है; और धर्म अन्ध-विश्वास के रूप में। आर्थिक अवस्था अत्यन्त विषम है। धनी और राजे-महाराजे तो हैं, पर बड़े-बड़े पैमाने पर उद्योग-धन्धों का एकदम अभाव है। गान-वाद्य-नृत्य आदि से अनभिज्ञ तो नहीं हैं, पर इस चीज की पहुँच बहुत थोड़े लोगों में ही है। इन बातों से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह देश असभ्य तो नहीं है; पर सभ्य भी नहीं है। असल में यह अर्द्धसभ्य है। जिन लोगों ने इस बात को जरा सहानुभूतिपूर्ण भाषा में लिखा, उन्होंने लिखा कि भारतवर्ष रहस्यमय है—'मिस्टिक' है। सयोगवश इन विदेशियों ने हमारी दुर्बलता का लाभ उठा लिया। वे राजा हुए। दोष और गुण सबमें होते हैं। उनमें भी हैं; पर एक बात में वे अतुलनीय निकले। उनकी ज्ञान-पिपासा बड़ी उत्कट साबित हुई। उन्होंने राज्य-भार हाथ में लेते ही इस देश को समझने की कोशिश की। भारतीय इतिवृत्त के विद्यार्थी से यह छिपा नहीं है कि उन्हें इस विषय में विषम बाधाओं का सामना करना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पड़ा—कितनी बार उन्हें धोखा खाना पड़ा; पर वे निराश न हुए। वेद के नाम पर एक भलेमानस ने उन्हें एक जाली पुस्तक दे दी! अशोक की लिपि को एक काशीवासी ने पाण्डवों के गुप्त वनवास का विवरण-पत्र बनाकर पढ़ दिया! यह ध्यान देने की बात है कि आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले ब्राह्मी या खरोष्ठ लिपि को पढ़नेवाला एक भी पंडित नहीं मिला था। सब-कुछ विदेशियों ने ही आरम्भ किया था। ईंट-पत्थरों की स्तूपीभूत जीर्णता में से अध्यवसायियों ने भारतीय सभ्यता का उद्‌घाटन शुरू किया।

अथक परिश्रम के फलस्वरूप जो कुछ ईंट-पत्थर आविष्कृत हुए, उनके बल पर देखा गया भारतीय सभ्यता का उज्ज्वल रूप! चकित भाव से विदेशियों ने कहा—यह है भारतवर्ष! वेदों को—आर्य-भाषाओं के सर्वप्रथम लिखित ग्रन्थों को जिसने देखा उसीने एक बार आश्चर्य की मुद्रा से पूर्व की ओर ताका, और अन्त में मोक्षमूलर भट्ट ने संसार को एक नयी बात से चौंका दिया। उसने देखा कि सम्पूर्ण यूरोप, ईरान और भारतवर्ष में एक ही भाषा बोली जाती है। इसके बोलनेवाले पूर्वज निश्चय ही एक स्थान से सर्वत्र फैले होंगे! जाति का—मेरा मतलब 'रेस' से है—नामकरण संस्कृत भाषा के एक शब्द से हुआ। वह शब्द है 'आर्य'। आर्य—संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति!

भारतवर्ष में आत्म-चेतना जाग रही थी। मोक्षमूलर भट्ट ने जिस शब्द का इतना जगद्‌व्यापी विज्ञापन किया था वह हमारा था, उसके वाचक हम भी थे। हमारी आत्म-चेतना ने इसे और भी साफ अर्थ में लिया—आर्य शब्द के वाच्य केवल हम ही हैं। बाद में आर्य समाज के सुगठित प्रचार ने इस शब्द को और भी व्यापक बना दिया। वेदों को माननेवाला आदमी आर्यसमाज की परिभाषा में आर्य हुआ। मोक्षमूलर की व्याख्या जातिमूलक थी,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आर्य-समाज की व्याख्या धर्ममूलक हुई। हमने अपने-गर्व के साथ अनुभव किया कि हम आर्य हैं, हमारी सभ्यता आर्य-सभ्यता है, हमारी संस्कृति आर्य-संस्कृति है, हमारी नस-नस में आर्य-रक्त प्रवाहित हो रहा है। इस गर्वानुभूति के साथ-ही ज्ञात या अज्ञात भाव से हम सदा सोचते रहे—हम वही आर्य हैं जो संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति है। हमारी चिन्ता सर्वश्रेष्ठ चिन्ता है। हमारी संस्कृति सर्वोत्तम संस्कृत है। जो कुछ इसके भीतर नहीं, वह ठीक नहीं, वह ग्राह्य नहीं !

३

ज्यों-ज्यों ज्ञान-पिपासुओं का उद्योग अग्रसर होता गया, त्यों-त्यों पूर्वतर मतों का संशोधन होता गया। मोक्षमूलर भट्ट की परम विज्ञापित आर्य जाति अब उतनी आकर्षक नहीं रही। नृतत्त्व-विशारदों ने शीघ्र ही पता लगाया कि आर्य भाषा बोलनेवाली सभी जातियाँ आर्य नहीं हैं। इधर भारतवर्ष की सभ्यता सम्पूर्णतः आर्य सभ्यता नहीं है। आर्य इस देश में इसी तरह नवागन्तुक थे, जिस प्रकार शक, हूण आदि अन्यान्य विदेशी जातियाँ समय-समय पर आयीं और अपने सारे आचार-विचार के साथ यहीं की हो रहीं। भारतीय संस्कृति पठार पर जमे हुए अनेक बालुकास्तरों की भाँति नाना साधनाओं और संस्कृतियों के योग से बनी है। आर्यों के आने के पहले इस देश में सभ्यतर द्रविड़ जाति बस रही थी। राजनीतिक रूप में विजित होने पर भी उनकी संस्कृति विजयी हुई। उपनिषदों का बहुधा-विज्ञापित—अध्यात्मवाद आर्य की अपेक्षा आर्येतर अधिक है। वर्तमान भारतवर्ष का धर्ममत अधिकांश में आर्येतर है। सरलता और ओजस्विता के कारण आर्य-भाषा की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जीत हुई ; पर उसके सौन्दर्य और सरसता व्यंजक रूप के लिए आर्येतर जातियों का ऋणी होना ही पड़ेगा। भारतीय दर्शन अनेकांश में आर्येतर सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ है।

परन्तु सबसे अधिक आर्येतर-संभव साहित्य और ललित कलाओं के क्षेत्र में हुआ है। अजन्ता में चित्रित, साँची, भरहुत आदि में उत्कीर्ण चित्र और मूर्त्तियाँ आर्येतर सभ्यता और समृद्धि के परिचायक हैं। महाभारत और कालिदास के काव्यों की तुलना करने से जान पड़ेगा कि दोनों दो चीजें हैं। एक में तेज है, दृप्तता है और अभिव्यक्ति का वेग है, तो दूसरे में लालित्य है, माधुर्य है और व्यञ्जना की छटा है। महाभारत में आर्य उपादान अधिक है, कालिदास के काव्यों में आर्येतर। जिन लोगों ने भारतीय शिल्प-शास्त्र का अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि भारतीय शिल्प में कितने आर्येतर उपादान हैं और काव्यों तथा नाटकों में उनका कैसा अद्भुत प्रभाव पड़ा है। पता चला है कि साँची, भरहुत आदि के चित्रकार यक्षों और नागों की पूजा करने-वाली एक सौन्दर्य-प्रिय जाति थी, जो सम्भवतः उत्तर-भारत से लेकर आसाम तक फैली हुई थी। बहुत-सी ऐसी बातें कालिदास आदि कवियों ने इन सौन्दर्य-प्रेमी जातियों से ग्रहण की, जिनका पता आर्यों को न था। कामदेव और अप्सराएँ उनकी देव-देवियाँ हैं, सुन्दरियों के पदाघात से अशोक का पुष्पित होना उनके घर की चीज है, अलकापुरी उनका स्वर्ग है—इस प्रकार की अन्य अनेक बातें उनसे और उन्हीं की तरह अन्यान्य आर्येतर जातियों से महाकवि ने ली हैं।

कहते हैं, भारतीय नाट्य शास्त्र आर्यों की विद्या नहीं है। एक प्राचीन कथा में बताया गया है कि ब्रह्मा ने नाट्य वेद नामक पाँचवें वेद की सृष्टि की थी। अगर आर्यों के वेदों से इसका कुछ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भी सम्बन्ध होता तो पंडितों का अनुमान है, इस कथा की जरूरत न हुई होती। वास्तव में भारतीय नाटक पहले केवल अभिनय रूप में दिखाये जाते थे। उनमें भाषा का प्रयोग करना आर्य-संशोधन या परिवर्द्धन है।

इस प्रकार मूल में भारतीय संस्कृति कई बलवती सभ्यताओं के योग से बनी। आर्य-द्रविड़ और यक्ष-नाग सभ्यता की त्रिवेणी से इस महाधारा का आरम्भ हुआ। बाद में अन्य अनेक सभ्य, अर्द्ध-सभ्य और अल्प-सभ्य जातियों की संस्कृतियाँ, धर्म-मत, आचार, परम्परा और विश्वास इसमें घुसते गये। भार-ज्योतिष, जो हमारी संस्कृति के निर्माण का एक जबरदस्त अंग है, बहुत-कुछ यवनों (ग्रीकों), बर्बरों (बैबिलोनियनों), असुरों (असीरियनों) के विश्वास से प्रभावित है। विश्वास किया जाने लगा है कि बाल-गोपाल की पूजा, जाटों, गूजरों और अहीरों की पूर्वज किसी घुमक्कड़ जाति की देन है। मध्ययुग की भारतीय संस्कृति एक हद तक फारस के सूफियों तथा अन्यान्य मुसलमानी पीरों के धर्ममत से प्रभावित हुई थी। इस युग की चित्रकला, संगीत-विद्या और नृत्यकला तो निश्चित रूप से आर्येतर उपादानों से समृद्ध हुई हैं।

पर ये सारी बातें भारतवर्ष की प्रकृति को देखते हुए एक भयंकर विरोधाभास-सी नजर आयेंगी। जिस सभ्यता के मूल में ही वर्जनशीलता है, उसने विदेशी बातों को इतना अधिक आत्मसात् किया है, यह बात विश्वास के योग्य नहीं जान पड़ती। सहस्र-सहस्र उपजातियों, सम्प्रदायों और टोलियों में विभक्त इस देश की जनता ही सत्य देखती हैं—परम्परा से चिपटे रहना। जहाँ हजारों वर्ष से एक साथ वास करनेवाली जाति के हाथ का छुआ पानी भी ग्रहणीय न समझा जाता हो, वहाँ विदेशी संस्कृति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की अदला-बदली,एक असंभव-सी धारणा है। यह कैसे मान लिया जाय कि गर्वीली आर्यजाति के वंशधरों ने उन लोगों के धर्म-विश्वास और आचार-परम्परा को भी अपनाया है, जिसे वे अपनी भाषा सुनाने के योग्य नहीं समझते थे।

वस्तुतः यह अभी का दृश्यमान विरोध ही सारी भारतीय संस्कृति के निर्माण में सहायक हुआ है। जैसा कि बताया गया है, सभ्यता और संस्कृति एक ही वस्तु नहीं है। जहाँ हजारों छोटी-मोटी जातियों की सामाजिक व्यवस्था, नैतिक परम्परा, विचित्र आचार-विचार को प्रश्रय देनेवाली सभ्यता है, वहीं योग-दृष्टि या समन्वयात्मिका संस्कृति भी सम्भव है। भारतीय संस्कृति ने भेद की समस्या को उस ढंग से नहीं सुलझाया जिस ढंग से अमेरिका में सुलझाया गया है। अमेरिका-प्रवासी यूरोपियों ने वहाँ के आदिम अधिवासियों को बेदर्दी के साथ कुचल दिया। उनका अस्तित्व ही नहीं रहने दिया। जो सभ्यता सबको पीसकर एक कर देना चाहती है, उसके प्राण में बहुत्व है, उसके रक्त में भेद-भाव और घृणा है। भारतीय संस्कृति के प्राण में एकत्व है, उसके रक्त में सहानुभूति है। यही कारण है कि आज इस देश में सहस्राधिक समाज एक-दूसरे को बाधा न पहुँचाते हुए भी अपनी विशेषताओं के समेत जीवित हैं। भारतीय संस्कृति ने सदा-सर्वदा समन्वय के रूप में समस्या का समाधान किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

संस्कृति और साहित्य

वैदिक युग से लेकर ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी तक निरन्तर समन्वय की चेष्टा ही भारतीय संस्कृति का इतिहास है। कर्म-प्रधान वैदिक धर्म के साथ जब वैराग्य-प्रधान अध्यात्मवादी आर्येतरों का संघर्ष हुआ, तो इस संस्कृति ने बड़ी शीघ्रता के साथ मानव-जीवन को चार आश्रमों में बाँटकर समन्वय कर लिया। आर्यों का स्वर्ग और आर्येतरों का मोक्ष तथा पुनर्जन्म-सिद्धान्त इस संस्कृति में दूध-चीनी की तरह घुल गये। कबीर, नानक, दादू, अकबर, राममोहन आदि का प्रयत्न समन्वय का प्रयत्न था। हठात् उन्नीसवीं सदी में एक नयी समस्या आ उपस्थित हुई। यह बात भारतीयों के लिए सर्वथा अपरिचित थी। इस समस्या को उन्होंने कभी सुना-समझा न था। इस समस्या का नाम है—'नेशनैलिटी'। इसको हिन्दी में नाम दिया गया है, 'राष्ट्रीयता'।

पश्चिम की यांत्रिक राष्ट्रीयता जब पहले-पहल इस राष्ट्रीयता-रहित देश में आयी, तब यहाँवालों ने उसे ठीक नहीं समझा। एक आदमी राजा हो सकता है, वह किसी वर्ग-विशेष के आदमियों के ऊपर कृपा, क्रोध आदि भी कर सकता है, नहीं भी कर सकता है। यह बात तो ये समझ सकते थे; किंतु समूचे देश का कोई राजा हो सकता है, यह बात कुछ अजीब-सी लगी। पहले कुछ कौतूहल और भय, फिर संभ्रम और सन्देह की दृष्टि से देखने लगे; जब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अच्छी तरह से देखा तो उसका रहस्य मालूम हुआ। व्यक्ति ने संघात के सामने अपने को पराजित अनुभव किया। भारतवष ने पहली बार सम्मिलित भाव से एक ही मंच पर खड़े होने का प्रयत्न शुरू किया। इस राष्ट्रीयता-रहित देश को राष्ट्र-वेश में सज्जित होना पड़ा ; लेकिन समस्या यह ऊपरी रूप था। ऐसा मालूम हुआ था कि अपने प्राचीन आचार-विचारों का अर्थहीन गट्ठर कन्धे पर ढोते हुए भी हम राष्ट्र-निर्माण कर सकते हैं। इससे हमारी परम्परा-समागत रूढ़ियों के आहत होने का भय एकदम नहीं है; पर वास्तव में ऐसा हुआ नहीं। समस्या केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं थी।

पिछली शताब्दी में कई ऐसे युगान्तरकारी आविष्कार पश्चिमी देश में हुए, जिनसे राष्ट्र-नीति में आमूल परिवर्तन हो गया। प्रेस ने ज्ञान को सुलभ कर दिया, वाष्प-यन्त्रों ने दूरी कम कर दी और चिकित्सा-सम्बन्धी आविष्कारों ने जीवन को ज्यादा सुरक्षित बना दिया। इनमें परस्पर एक-दूसरे का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। समाचार पत्र, जो बाद में प्रेस के एकार्थक हो गये, जहाँ ज्ञान-संकलन करने लगे, वहीं मुस्तैदी के साथ राजशक्ति अपनी धाँधली के साथ भी अपना शानदार कारवाँ हाँक सकती थी ; पर वाष्प-यानों ने शत्रु के आक्रमण की इतनी सम्भावना पैदा कर दी कि जनता की उपेक्षा उसके लिए घातक सिद्ध होती, इसीलिए अनिच्छापूर्वक इसी राजशक्ति ने जन-शक्ति को आत्म-समर्पण कर दिया। इसका अवश्यम्भावी परिणाम वही था, जिसे राष्ट्रीयता कहा जाता है। इस राष्ट्रीयता ने जनता की सुरक्षा का प्रबन्ध करना शुरू किया। सुरक्षिता का अर्थ है सभ्यता-समृद्धि। यह सुरक्षा नाना रूपों में लोगों को मिलने लगी—चिकित्सा-शास्त्र के द्वारा, पुलिस और कचहरियों के द्वारा, म्युनिसिपल व्यवस्थाओं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के द्वारा, ज्ञान-प्रसार के वाहक प्रेसों के द्वारा और इसी प्रकार अन्यान्य विभागों के द्वारा। सुरक्षा के साथ ही व्यवसाय-वाणिज्य ने जोर पकड़ा और फलतः अर्थ का असम विकीरण शुरू हो गया। आर्थिक व्यवस्था जटिल होती गयी और जीवन-संग्राम कठिन से कठिनतर होता गया। राष्ट्रीयता-हीन देशों में उपनिवेश बसे। धनी देशों में संगठित लूटपाट जारी हुई।

उधर वैज्ञानिक आविष्कार चक्रवृद्धि व्याज की तरह बढ़ते गये। ग्रामोफोन, सिनेमा आदि ने बड़ी आसानी से एकदेश की रीति नीति, आचार-व्यवहार को अन्यत्र वहन करना शुरू किया। कुछ पेट की लड़ाई से, कुछ केन्द्रच्युत मस्तिष्कों की उमंग से सम्मिलित परिवार-प्रथा शिथिलतर होती गयी। विवाह करना भार समझा जाने लगा और बहुत दिनों की सांसारिक रूढि एकाएक जोर से हिल गयी। स्त्री-स्वतन्त्रता का आन्दोलन विकट रूप से पुरुष-स्वतन्त्रता का प्रतिद्वन्द्वी हो उठा। इन और इन्हीं की तरह अनेक विचारगत उथल-पुथलों के बीच में वर्तमान सभ्यता का रथ-घर्घर भारतवर्ष के रूढ़ि-प्रिय कानों को सुनाई दिया। जिसने सुना, उसी ने कहा—यह भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है, यह अग्राह्य है।

लेकिन यह रंग-ढंग भारतीय संस्कृति के ही विरुद्ध नहीं था—ग्रीक, रोमन या अन्य कोई प्राचीन संस्कृति भी इससे उसी प्रकार चौकन्नी हो सकती थी और कई जगह हो भी चुकी थी ; लेकिन जिस प्रकार वे इसे ग्रहण करने को बाध्य हुए थे, यहाँवालों को भी उसी प्रकार बाध्य हुए बिना कोई उपाय नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जो बात उन्हें दो सौ वर्ष में धीरे-धीरे ग्रहण करनी पड़ी थी, वही बात हमें बीस वर्षों में करनी पड़ रही है—तेजी से, हड़बड़ी में। स्वभावतः ही हमें कष्ट ज्यादा हो रहा है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

यहाँ भी वही प्रेस, वही वाष्प और बिजली के यन्त्र, वही सिनेमा और थियेटर, वही सब-कुछ—बल्कि उनसे कई अंशों में सुधरे हुए और समृद्ध हैं—फिर वही बातें, जो उन देशों में घट चुकी हैं, यहाँ घटने से क्यों बाज आयँगी ?

वैज्ञानिक युग के पहले भी भारतवासी यही चीज थे, जो आज हैं; पर परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण उनका मानसिक संस्कार भी बदलता जा रहा है। पुराने जमाने में परम्परा-प्राप्त रहन-सहन से अभ्यस्त होने के कारण परम्परा-समागत विश्वास और आचार के वहन में जो सुविधा प्राप्त थी, अब वह शिथिल से शिथिलतर होती जा रही है। कार्य के उद्देश्य से अलग-अलग स्थानों में वास करने के कारण पारिवारिक आचार-परम्परा विशेष भाव से आहत हुई है। नयी शिक्षा के परिचय से विश्वास भी ढीला होता जा रहा है। कम-से-कम शहरों में बसी हुई जनता उतने अर्थहीन आचार-विचार के जंजालों से नहीं दबी है, जितने उनके ग्रामीण पूर्वज थे। ग्राम भी पहले-जैसे नहीं रहे, क्योंकि गाँव के बहुत-से आदमियों का शहरों में आकर काम पाना उन्हें ग्रामीण परम्परा से विच्छिन्न कर देता है।

२

अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक कल्पनाओं में आजकल हमलोग पूर्व और पश्चिम शब्द का व्यवहार करने लगे हैं। यह एक मनोरञ्जक बात है कि भारत के प्राचीन मनीषी इन शब्दों का व्यवहार नहीं करते थे। पूर्व रहस्यमय है, आध्यात्मिक है, धर्म-प्राण है; पश्चिम व्यवसायी है, 'मैटर-आफ-फैक्ट' है, आधिभौतिक है—इत्यादि बातें हम सुना करते हैं, प्रयोग भी किया करते हैं, लेकिन पूर्व और पश्चिम की विभाजित रेखा कहाँ है? फ्रांस पश्चिम में है, जर्मनी पूर्व में; जर्मनी पश्चिम में है, रूस पूर्व में।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अमेरिका पश्चिम में है या जापान ? कौन बतायगा ? असल में पश्चिम का अर्थ कुछ आधुनिक और व्यवसायी रूप में होने लगा है और पूर्व का प्राचीन और अस्त-व्यस्त अर्थ में। विशेष आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों के कारण यूरोप में एक प्रकार की विचारगत क्रान्ति हुई है, यह बात यूरोप के पूर्वस्थ प्राचीन देशों में नहीं हो सकती ; पर सदा के लिए उसे उन देशों में आने से कौन रोक सकता है ? जापान सुदूर पूर्व से बढ़कर व्यवसायी, मैटर-ऑफ-फैक्ट' और आधिभौतिक देश कौन है ?

असल बात यह है कि मनुष्य का मन सर्वत्र एक है। राज-नीतिक, आर्थिक आदि कारणों से उस एक मन के प्रकाशन का बाह्य आवरण चाहे जितना ही भिन्न क्यों न हो, भीतर में वह एक है। नृतत्त्व विशारदों के आधुनिक शोध इसके पक्के सबूत हैं। एक ही प्रकार के मनोभाव पारिपार्श्विक अवस्थाओं के योग से नाना प्रकार के सामाजिक और धार्मिक आचरणों में बदल गये हैं। यह मनोरञ्जक सत्य है कि मानव जाति की बहुधा-विभक्त धार्मिक भावनाओं, सामाजिक रूढ़ियों, सौन्दर्य और शील की धारणाओं का मूल कारण सर्वत्र एक ही मनोभाव रहे हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी विशेष-विशेष टोलियों में आबद्ध होकर आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों नयी-नयी और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के योग से उसके बाह्य आचार बदलते गये। इन्हीं प्राचीनता-प्राप्त आचारों ने, धार्मिकता, राष्ट्रीयता, जातीयता आदि का आकार ग्रहण किया। इन्हीं प्राचीनता-प्राप्त आचारों ने—इन्हें रूढ़ि कह सकते हैं—हमारे दैनिक आचार पूजा-पाठ, धर्म-कर्म, विचार-व्यवहार पर अपनी छाप लगा दी है। इन बाह्य विशेषताओं ने अर्से से मनुष्य और मनुष्य के बीच दीवार खड़ी रखी है। हम लड़े हैं, झगड़े हैं, मरते-मारते रहे हैं, एक-दूसरे को लूटते-खसोटते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रहे हैं और अभिमान के साथ अपने विशेष वर्ग और विशेष टोली का जय-निर्घोष करते रहे हैं।

समय ने पलटा खाया है। वैज्ञानिकों ने मानवीय प्रकृति और विश्व-प्रकृति का निर्लिप्त भाव से विश्लेषण किया है। देखा गया है कि जगत में एक ही शाश्वत मानव-मस्तिष्क काम कर रहा है। आज तक संसार गलतफहमी का शिकार बना रहा है। आज उसके पास इतने अधिक साधन हैं कि पुरानी गलतफहमी अगर उसी वेग से चलती रही, तो उसका परिणाम भयंकर होगा। शायद संसार में एक जाति को दूसरी जातियों के समझने की इतनी सख्त जरूरत कभी न पैदा हुई थी। समझने का रास्ता अब भी साफ नहीं हुआ है। दो सेहियाँ (साहिलें) अगर अपने शरीर के काँटों को खड़ा करके एक-दूसरे का आलिंगन करना चाहें तो आलिंगन हो चुका! अगर दूसरी जातियों को समझने के लिए हमने अपने को अपने सारे वाह्या-चारों के जंजाल में बन्द करके रखा, तो हमारी कोशिश व्यर्थ है।

अगर हमने गाल्सवर्दी और बर्नर्ड शा को समझने के लिए पूर्व और पश्चिम के कृत्रिम विभाजन को अपने मन से निकाल न दिया, तो हम केवल दो साहित्यिकों को ही समझने में गलती नहीं करेंगे, बल्कि समूची जाति को गलत समझेंगे। कृत्रिम विभाजन कहने से मेरा मतलब यह है कि हम व्यर्थ के पचड़े में न पड़ जायँ कि कोई चीज उसमें कहाँ तक भारतीय या अभारतीय, आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक है। चीज अगर अच्छी है, तो वह भारतीय हो या न हो, स्वीकार है; आध्यात्मिक हो या नहीं, ग्राह्य है; लेकिन अंग्रेजी समाज और भारतीय समाज में कुछ अन्तर जरूर है। इन बाह्याचरण - सम्बन्धी अन्तरों को हमें नहीं भूलना चाहिए; क्योंकि इनको भूल जाने से चीज को समझने में भूल हो सकती है। गाल्सवर्दी एक विशेष प्रकार के बाह्याचार में पले आदमी को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लक्ष्य करके लिख रहे हैं, इसलिए उनको समझने के लिए उनका लक्ष्यीभूत आचरण याद रखना चाहिए।

पूछा जा सकता है कि अगर भारतीयता, आध्यात्मिकता या ऐसी ही कुछ चीज अच्छाई के निर्वाचन की कसौटी नहीं है, तो वह कौन सी चीज है जो अच्छाई के निर्वाचन की सहायक है। यह अन्य विषय है। इसे छेड़ने से एक समूची समस्या को छेड़ना होगा। साधारणतः मनुष्य का मन ही अच्छी चीज के निर्णय की कसौटी है; लेकिन यह उत्तर भी अस्पष्ट है। क्योंकि किसी का मन बिहारी-सतसई को पसन्द करता है; किसी का दुलारे दोहावली को। कौन-सा प्रमाण है और कौन-सा अप्रमाण। वास्तव में मन कहने से हम किसी एक आदमी के मन को नहीं समझना चाहते। संसार की एक प्रवृद्ध मनीषा ने औसत् संस्कृत सहृदयों की आनन्दानुभूति को एक विशेष सीमा तक पहुँचाया है। मन से मतलब उसी स्टैण्डर्ड मन से है।

लेकिन फिलहाल हम उधर नहीं विचार करना चाहते। हमारा मूल वक्तव्य यही है कि हमें पूर्व या पश्चिम, या भारतीय-अभारतीय आदि कृत्रिम विभाजनों के अर्थ-हीन परिवेष्टनों से अपने को घेर नहीं रखना चाहिए। अगर जरूरत हो तो तथाकथित आध्यात्मिक विशेषणों से विशिष्यमाण आचारों और मनोविकारों को अतिक्रमण करके भी विश्वजनीन सत्य को जानने की कोशिश करनी चाहिए। जिन महापुरुषों ने क्षुद्र-बृहत् परिवेष्टनों को तोड़कर भारतीय साहित्य और संस्कृति को समझने की कोशिश की है, उनसे अगर गलती भी हुई हो तो उनका मजाक नहीं उड़ाना चाहिए। भारतीय संस्कृति—और कोई भी अन्य संस्कृति (अगर संस्कृति शब्द को विशेषण बिना कहा ही न जा सके!)—विश्वजनीन सत्य की विरोधी नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

संस्कृतियों का संगम

अपने प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से हम ऐसी अनेक जातियों का परिचय पाते हैं, जिनमें आचार-विचारगत पार्थक्य बहुत अधिक मात्रा में वर्तमान था। ये जातियाँ सभ्यता के नाना स्तरों पर स्थिर थीं और उनमें अकारण और सकारण युद्ध बराबर होते रहते थे। अधिकांश युद्ध विभिन्न विश्वासों और संस्कारों के संघर्ष के कारण हो जाते थे। भौगोलिक पुरातत्त्व के पण्डितों का अनुमान है कि इस देश का मध्य और दक्षिणी भाग पुराना है; हिमालय और राजस्थान अपेक्षाकृत नये भूखण्ड हैं, जिनमें एक भूगर्भ के आकस्मिक उत्पात से समुद्र में से उन्नत हो आया, और दूसरा प्रकृति के सहज क्रम में सूखकर मरुभूमि बन गया है। इससे यह समझा जा सकता है कि यदि इस देश में प्रथम मनुष्य का वास कहीं हुआ होगा तो वह विन्ध्यपर्वत के दक्षिण में ही कहीं रहा होगा। यह भूभाग कभी आस्ट्रेलिया के विशाल द्वीप के साथ स्थल-मार्ग से सम्बद्ध था और निकोबार और मलक्का के द्वीप भी इस भूभाग के ही संलग्न अंश थे। इस भूखण्ड में कभी मुंडा या कोल श्रेणी की जातियों की बस्ती थी। ये जातियाँ अब भी वर्तमान हैं और अपनी पुरानी परम्परा को कथंचित जिन्दा रखने में समर्थ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हैं। साधारणतः यह समझा जाता रहा है कि ये जातियाँ भारतीय सभ्यता के केन्द्रों, संचरण-मार्गों और तीर्थस्थलों से दूर रहने के कारण इस सभ्यता को बहुत कम 'संसर्ग-दुष्ट' बना सकी हैं। पर आधुनिक शोधों से बिल्कुल उल्टे तथ्यों का आविष्कार हुआ है। प्रो० सिलवाँ लेवी ने अंग-बंग, कामरूप-तामरूप, कलिंग-त्रिलिंग आदि देशवाचक और स्थानवाचक अध्ययन से यह दिखा दिया है कि इन जातियों की परम्परा एकदम उपेक्षणीय नहीं। लेवी के शिष्य प्रो० ज्युलुस्की ने मोन-ख्मेर श्रेणी की भाषाओं के साथ इन जातियों की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर एकदम नयी जानकारियों का द्वार-उद्घाटन कर दिया है। यह समझना गलत है कि ये जातियाँ हमारी सभ्यता में कुछ भी नहीं दे सकी हैं। अनेक वृक्षों के नाम, खेती-बारी के औजारों और अन्य पारिभाषिक शब्दों के नाम इनकी भाषाओं से आर्यभाषाओं में आये हैं। वृक्ष-पूजा इन जातियों की देन हो सकती है। लिंग-पूजा और लांगलधर और लांगूलधर देवता की पूजा भी इन जातियों से हिन्दू धर्म में आयी होंगी। तम्बूल भी इसी श्रेणी की भाषा के किसी शब्द का सांस्कृतिक रूप है। ताम्बूल को परवर्ती हिन्दू-धर्म में और शिष्टाचार में जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, वह सर्व-विदित है। उड़ीसा और बंगाल के अनेक धर्ममतों पर और परवर्ती कबीर पंथ पर भी इनके प्रभाव का प्रमाण उपलब्ध हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक हिन्दू जातियाँ भी मूलतः इसी श्रेणी की होंगी। हिन्दू समाज के निचले स्तर में खेती-बारी करनेवाली बहुत-सी जातियाँ इनका आर्यभाषी संस्करण हैं। इस प्रकार इन जातियों के अध्ययन से हमारे धर्मजीवन की परम्परा के अध्ययन में बहुत सहायता मिल सकती है, पर दुर्भाग्यवश इनका उतना ठोस अध्ययन नहीं हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विन्ध्यपर्वत को पार करके दक्षिण जानेवाले सर्वप्रथम मुनि अगस्त्य समझे जाते हैं। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि श्री रामचन्द्र ने दक्षिण को विजय किया और उन्होंने ही उस भूखण्ड में आर्य-प्रभाव का विस्तार किया। वह बात केवल प्राचीन परम्परा की आधुनिक काल्पनिक व्यख्या मात्र भी हो सकती है और आंशिक रूप में सत्य भी हो सकती है। श्री रामचन्द्र को दक्षिण की कई ऐसी जातियों का सहयोग मिला था जिन्हें कृषि-कर्म का भी अभ्यास नहीं था। और केवल वृक्षों के डाल और पहाड़ों के टुकड़े अर्थात् पत्थर के अस्त्रों का ही व्यवहार जानती थीं। इन्हें 'बानर' कहा गया है। राम के पास लोहे के बाण थे। आधुनिक शोधों ने इस विचित्र रहस्य का उद्‌घाटन किया है कि उत्तर और दक्षिण के प्रागैतिहासिक युग के इतिहास में एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि उत्तर में प्रस्तर युग और लौह युग के बीच में ताम्र युग आता है जब कि दक्षिण में प्रस्तर युग के बाद एकदम लौह युग आ जाता है। छोटानागपुर की खुदाइयों से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। विद्वानों ने अनुमान से कहा है कि द्रविड़ जातियों ने मुंडा या कोल जातियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। सन् १९२४ ई० में एक महत्त्वपूर्ण बात का पता लगा। डा० राखालदास बनर्जी ने मोहेन-जो-दड़ो में और पं० दयाराम साहनी ने हरप्पा में धरती के नीचे गड़ी हुई एक अत्यन्त समृद्ध आर्य-पूर्व सभ्यता का पता लगाया। ऐसे भवनों की खोज हुई जिनमें बहुत-सी महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ उपलब्ध हुईं। इनमें कुछ ऐसी मुद्राएँ (सील) मिलीं, जिनकी लिपि अभी पढ़ी नहीं जा सकी। उनमें साँढ़ों की उत्कीर्ण मूर्तियाँ भी मिलीं। ये सारी चीजें ख्रीष्ट-पूर्व तृतीय सहस्राब्दक में उपलब्ध सुमेरियन वस्तुओं से बहुत मिलती थीं। जब सर जॉन मार्शल ने इस अनु-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सन्धान के परिणामस्वरूप प्राप्त वस्तुओं का लेखा-जोखा प्रकाशित किया तो पण्डितों की दुनिया आश्चर्य से स्तब्ध रह गयी। नाना प्रकार के अनुमान भिड़ाये गये। बलूचिस्तान में ब्राहुई नामक द्रविड़ भाषा का सन्धान पहले ही पाया जा चुका था। एक पूरी सुमेर द्रविड़ सभ्यता का अनुमान किया गया। इन समानताओं के आधार पर कुछ बहुत अधिक तो नहीं कहा जा सकता; पर इतना तो निश्चित है कि ईसामसीह के हजारों वर्ष पहले द्रविड़ सभ्यता का घनिष्ठ सम्बन्ध मेसोपोटामिया, मिस्र और बैबिलोनिया आदि की सभ्यता से बड़ा था। इधर हाल में कुछ इस प्रकार विश्वास किया जाने लगा है कि सिन्ध उपत्यका के लोग ही सामुद्रिक मार्ग से सुमेर की ओर गये थे। सुमेरियन लोगों की एक पौराणिक गाथा यह है कि 'औनस' नामक मत्स्य-रूपधारी पुरुष ईरान की खाड़ी तैरकर आया और उसने सुमेरियन लोगों को ज्ञान का उपदेश दिया। इससे यह अनुमान पुष्ट होता है कि सिन्धु उपत्यका के लोगों ने ही सभ्यता का सन्देश सुमेर-वासियों को दिया था। जो हो, यहाँ प्रकृत विषय यह है कि आर्यों के आने के पहले इस देश में एक अत्यन्त समृद्ध द्रविड़ सभ्यता थी। यह कहना कि श्री रामचन्द्र ने समूचे दक्षिण को सभ्य बनाया, विशेष युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता; क्योंकि रावण और उसके राज्य के लोग रामायण की अपनी गवाही पर ही कम समृद्ध नहीं जान पड़ते। यह हो सकता है कि लोहे का परिचय द्रविड़ों को आर्यों से हुआ हो, पर यह इतने से अधिक कुछ भी नहीं सिद्ध करता कि दक्षिण की पर्याप्त समृद्ध सभ्यता में लोहे का अभाव था। आर्यों के पास लोहे के अस्त्र थे जिनसे वे विजयी हुए। एक दूसरी बात भी उनके विजय का कारण रही होगी—घोड़े।

यदि १९२४ ई० में संयोग से मोहेन-जो-दड़ो और हरप्पा

19721
CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की लुप्त निधियों का आविष्कार न हो गया होता तो आज हम उतना भी नहीं सोच सकते, जितना इस समय सोच सकते हैं। इस घटना का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह भी है कि पुरातत्त्व के प्रमाणों के अभाव का अर्थ किसी विचारधारा या तथ्य का अभाव नहीं है। बहुत संभव है कि धरती के किसी-न-किसी कोने में तथ्य मुँह छिपाये पड़ा हो। हो सकता है कि तथ्य का सन्धान बतानेवाला पुरातत्व का चिह्न एकदम मिट ही गया हो। ऐसी अवस्था में परम्परा हमको बहुत-कुछ सहायता दे सकती है; परम्परया हम सुनते आते हैं कि रावण बहुत बड़ा शैव साधक था, वह वेदों का व्याख्याता था, वह शिल्प-शाखा का उन्नायक भी था और उसको आयुर्वेद के आचार्य होने का गौरव भी प्राप्त है। इन बातों के सबूत में कोई ऐतिहासिक समझा जानेवाला प्रमाण नहीं मिला है। रावण-लिखित बतायी जानेवाली आयुर्वेद की पुस्तक बहुत आधुनिक है। और जिन शिल्प-ग्रन्थों में रावण-प्रवर्तिक शिल्प-शाखा का उल्लेख है वे भी बहुत आधुनिक हैं, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये बातें एकदम गप्प हैं और इनको एकदम अस्वीकार कर देना चाहिए। ऐतिहासिक प्रमाण से असमर्थित परम्परा एकदम त्याज्य नहीं मानी जानी चाहिए।

द्रविड़ जाति कौन हैं? शुरू-शुरू में आर्येतर जातियों को द्रविड़ कहने का फैशन था। इनमें रावण भी था, बाणासुर भी था, प्रह्लाद और बालि आदि भी थे। परन्तु अब यह बात स्पष्ट हुई कि तथाकथित द्रविड़ जाति कोई एक मानव-मंडली नही है। द्रविड़ भाषाओं को बोलनेवाली सभी जातियों को भी द्रविड़ नहीं कहा जा सकता। रावण का जन्म जिस जाति में हुआ था उसका आधुनिक नाम क्या है? यह भी अनिश्चित ही है। कुछ लोगों ने गोंड जाति को उस जाति का आधुनिक जीवित रूप बताया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गोंड़ राजाओं की प्रशस्तियों से भी पता चला है कि वे अपने को 'पुलस्त्य-वंशी' समझते थे। गोंड़ शब्द के साथ संस्कृत के 'कौणप' 'कोएडप' (राक्षस) आदि शब्दों की समानता से भी इस तथ्य को पुष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। पौराणिक परम्परा इस विषय में बहुत उलझी हुई है। रावण को पुलस्त्य मुनि की सन्तान भी बताया गया है, यक्षपति कुबेर से उसका रिश्ता भी जोड़ा गया है और उसे स्पष्ट रूप में 'ब्राह्मण' भी कहा गया है। उसके आचार में शिव की पूजा भी है, वेद का पाठ भी है और मद्य-मांस का सेवन भी है।

पण्डितों में यह विश्वास जमता जा रहा है कि वृक्ष-पूजा, नर-बलि, जीव-बलि, मद्य-मांस का सेवन, प्रेत-पूजा आदि आचारों के मूल उत्स मुण्डा या कोल जातियाँ हैं और मूर्ति-पूजा, ध्यान, जप; गुरु-पूजा, अवतारवाद आदि के मूल प्रेरणा-स्रोत ऐसी जातियाँ हैं जो इन कोल, मुण्डा आदि श्रेणियों की जातियों से अधिक सभ्य और समृद्ध थीं। एक शब्द में इसका नाम 'द्रविड़' रख दिया गया है।

परवर्ती काल का वह तन्त्रवाद, जिसमें स्त्री-तत्व की प्रधानता थी और शरीर को ही समस्थ सिद्धियों का श्रेष्ठ साधन माना जाता था, यक्ष, गन्धर्व आदि किरात जातियों की देन रहा होगा। उत्तर से ही कापालिक और वाम मार्गों का आगमन हुआ होगा। हमने अन्यत्र इस विषय की छान-बीन की है। बंगाल में इन लोगों के साथ द्रविड़ जातियों के मिश्रण से एक नयी जाति का जन्म हुआ है। बाद में चलकर आर्य-रक्त का भी इसमें मिश्रण हुआ है।

परन्तु इन सबसे प्रभावशाली जाति आर्य है, जिसका वैदिक साहित्य इस देश की सभी जातियों पर जबर्दस्त प्रभाव विस्तार कर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सका है। वे आर्य लोग किस ओर से भारतवर्ष की मध्य-भूमि की ओर आवे, यह सर्वसम्मत बात है। उत्तर-पश्चिम की ओर से ही वे लोग मध्य देश में आये। पर इस ओर आने के पहले वे लोग कहाँ रहते थे, यह बात बहुत उलझी हुई है। कुछ थोड़े से तथ्यों का पता लगा है। इनकी व्याख्या बहुत भाँति की होने के कारण ये तत्व स्वयं ही अस्पष्ट हो गये हैं। कुछ यूरोपीय पण्डितों ने एक बार यह बताने का यत्न किया था कि आर्य लोग यूरोप से इधर आये थे ; पर आरमीनियन भाषा पर इसका कोई चिह्न न मिलने से यह सोचा गया कि यूरोप से ईरान के रास्ते वे उस भूभाग को छोड़कर किसी प्रकार भारत नहीं आ सकते थे। सन् १६०६ ई० में हिटाइट की राजधानी बोजाज में की गयी खुदाई से यह साबित हुआ कि हिटाइट भाषा का कोई-न-कोई सम्बन्ध आर्य भाषाओं से है। यद्यपि विद्वानों में इस बात को लेकर मतभेद ही बना रहा है कि हिटाइट भाषा आर्य भाषा ही है या आर्य भाषा द्वारा प्रभावित है। परन्तु इससे भी अधिक मनोरञ्जक आविष्कार यह हुआ है कि यूफ्रेटस के उपरले हिस्से के मित्तानी राज्य ने १४०० ई० पूर्व में हिटाइट के राज्य से सन्धि करते समय उन देवताओं के नाम साक्षीरूप में लिये है जो भारतीय वैदिक साहित्य के विद्यार्थी के अत्यधिक परिचित हैं। ये देवता हैं, मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस भूभाग में आर्यों का आगमन किसी समय हुआ होगा। एक विद्वान् के इस अनुमान का अभी भी युक्ति-संगत खण्डन नहीं उपस्थित किया जा सका कि इन देवताओं की उपासना करनेवाला सम्प्रदाय भारतवर्ष से चलकर पश्चिम में दूर तक फैल गया था। ऐसा जान पड़ता है कि मध्य-एशिया के किसी स्थान से आर्य नाना दिशाओं में फैले थे। इनका एक हिस्सा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ईरान होकर भारत आया था। जो हो, इन आर्यों का प्रभाव भारतवर्ष की विभिन्न जातियों पर बहुत अधिक पड़ा। हमारा उच्चतर दर्शन, धर्म-तत्त्व और अध्यातम इन आर्यों के साहित्य से निरन्तर प्रेरणा पाता रहा है।

परन्तु जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, यह भारतवर्ष महा-मानव-समुद्र है। केवल आर्य, द्रविड़, कोल और मुण्डा तथा किरात जातियाँ ही इसमें नहीं आयी हैं। कितनी ऐसी जातियाँ यहाँ आयी हैं जिन्हें निश्चित रूप से किसी खास श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। फिर उत्तर और पश्चिम से नाना जातियाँ, राजनीतिक और आर्थिक कारणों से, आती रही हैं। उन सबके सम्मिलित प्रयत्न से वह महिमाशालिनी संस्कृति उत्पन्न हुई जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं।

आज केवल अनुमान के बल पर ही कहा जा सकता है कि अमुक प्रकार का आचार आर्य है, अमुक प्रकार का विचार द्रविड़ है; पर इसमें सन्देह नहीं कि अनेक आर्य-अनार्य जातियों ने इस देश के धर्मविश्वास को नाना भाव से समृद्ध किया है। आज भी उन जातियों की थोड़ी-बहुत परम्परा बच रही है। उनके अध्ययन से हम निश्चित रूप से इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि हमारे धर्म-विश्वास को सभी जातियों ने किसी-न-किसी रूप में प्रभावित अवश्य किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भारतीय संस्कृति की देन

भारतीय संस्कृति पर पीछे हमलोगों ने विचार किया है। मैं यहाँ फिर दुहरा देना चाहता हूँ कि मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मैं मानता हूँ कि सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है। नाना ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजरकर और भौगोलिक परिस्थितियों में रहकर संसार के भिन्न-भिन्न समुदायों ने उस महान् मानवीय संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है जिसे हम 'संस्कृति' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं। यह संस्कृति शब्द बहुत अधिक प्रचलित है तथापि यह अस्पष्ट रूप में ही समझा जाता है। इसकी सर्वसम्मत कोई परिभाषा नहीं बन सकी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और संस्कारों के अनुसार इसका अर्थ समझ लेता है। फिर इसको एकदम अस्पष्ट भी नहीं कह सकते ; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति हैं। इसकी अस्पष्टता का कारण यही है कि अब भी मनुष्य इसके सम्पूर्ण और व्यापक रूप को देख नहीं सका है। संसार के सभी महान् तत्त्व इसी प्रकार मानवचित्त में अस्पष्ट रूप से आभासित होते हैं। उनका आभासित होना ही उनकी सत्ता का प्रमाण है। मनुष्य की श्रेष्ठतर मान्यताएँ केवल अनुभूत होकर ही अपनी महिमा सूचित करती हैं। उनको स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और सुव्यवस्थित परिभाषा में बाँधना सब समय संभव नहीं होता। केवल 'नेति-नेति' कहकर ही मनुष्य ने उस अनुभूति को प्रकाशित किया है। अपनी चरम सत्यानुभूति को प्रकट करते समय कबीरदास ने इसी प्रकार की विवशता का अनुभव करते हुए कहा था—"ऐसा लो नहिं तैसा लो, मैं केहि विधि कहौं अनूठा लो!" मनुष्य की सामान्य संस्कृति भी बहुत-कुछ ऐसी ही अनूठी वस्तु है। मनुष्य ने उसे अभी तक सम्पूर्ण पाया नहीं है; पर उसे पाने के लिए व्यग्र भाव से उद्योग कर रहा है। यह मार-काट, नोंच-खसोट और झगड़ा-टंटा भी उसी प्रयत्न के अंग हैं। यह बात कुछ विरोधाभास-सी भले ही लगे, पर है सत्य। रास्ता खोजते समय भटक जाना, थक जाना या झुँझला पड़ना, इस बात के सबूत नहीं हैं कि रास्ता खोजने की इच्छा ही नहीं है। कविवर रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविजनोचित भाषा में इस बात को इस प्रकार कहा है कि यह जो लुहार की दुकान की खटाखट और धूल-धकड़ है, इनसे घबराने की जरूरत नहीं है। यहाँ वीणा के तार तैयार हो रहे हैं। जब ये तार बन जायँगे तो एक दिन इनकी मधुर संगीत-ध्वनि से निश्चय ही मन और प्राण तृप्त हो जायँगे। ये युद्ध-विग्रह, ये कूटनीतिक दाँव-पेंच, ये दमन और शोषण के साधन—ये सब एक दिन समाप्त हो जायँगे। मनुष्य दिन-दिन अपने महान् लक्ष्य के नजदीक पहुँचता जायगा। सामान्य मानव-संस्कृति ऐसा ही दुर्लभ लक्ष्य है। मेरा विश्वास है कि प्रत्येक देश और जाति ने अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं और भौगोलिक परि-स्थितियों के अनुसार उस महान् लक्ष्य के किसी-न-किसी पहलू का अवश्य साक्षात्कार किया है। ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक साधनों के परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न जातियाँ एक दूसरे के नजदीक आती आयँगी, त्यों-त्यों इन अंश-सत्यों की सार्थकता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रकट होती जायगी और हम सामान्य व्यापक सत्य को पाते जायँगे। आज की मार-काट इसमें थोड़ा रुकावट डाल सकती है; पर इस प्रयत्न को निःशेष भाव से समाप्त नहीं कर सकती। अपने इस विश्वास का कारण मैं आगे बताने का प्रयत्न करूँगा।

जो आदमी ऐसा विश्वास करता है, उससे यह पूछना नितान्त सङ्गत है कि संस्कृति के साथ 'भारतीय' विशेषण जोड़ने का अर्थ क्या है। क्या भारतीय से मतलब भारतवर्ष के समस्त अच्छे-बुरे प्रयत्न और संस्कार हैं ? नहीं, समस्त भारतीय संस्कार अच्छे ही हैं। या मनुष्य की सर्वोत्तम साधना की ओर अग्रसर करनेवाले ही हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। ऐसा देखा गया है कि एक जाति ने जिस बात को अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार माना है, वह दूसरी जाति की सर्वोत्तम साधना के साथ मेल नहीं खाता। ऐसा भी हो सकता है कि एक जाति के संस्कार दूसरी जाति के संस्कार के एकदम उलटे पड़ते हों। हो सकता है कि एक जाति मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण में ही अपनी कृतार्थता मानती हो और यह भी हो सकता है कि दूसरी जाति उनको तोड़ डालने की ही अपनी चरम सार्थकता मानती हो। ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। ऐसे स्थलों पर विचार करने की आवश्यकता होगी। सत्य परस्पर विरोधी नहीं होता। प्रसिद्ध सन्त रज्जबदास ने कहा था—"सब सांच मिलै सो सांच है, ना मिलै सो झूठ।" सम्पूर्ण सत्य अविरोधी होता है; जहाँ भी विरोध दीखे वहाँ सोचने की जरूरत होगी। हो सकता है कि दो भिन्न-भिन्न जन-समुदाय मोहवश दो असत्य बातों को ही बड़ा सत्य मान बैठे हों। हो सकता है कि दोनों में से एक सही हो और दूसरा गलत। साथ ही यह भी हो सकता है कि दोनों सही रास्ते पर हों; पर उनके दृष्टिकोण गलत हों। यदि हमें अपनी गलती मालूम हो तो उसे निर्मम भाव से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

छोड़ देना होगा। महाभारत ने बहुत पहले घोषणा की थी कि जो धर्म दूसरे धर्म को बाधित करता है, वह धर्म नहीं है, कुधर्म है। सच्चा धर्म अविरोधी होता है—

धर्मो यो बाधते धर्मं न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिसत्तम ॥

मैं जब 'भारतीय' विशेषण जोड़कर संस्कृति शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मैं भारतवर्ष द्वारा अधिगत और साक्षात्कृत अविरोधी धर्म की ही बात करता हूँ। अपनी विशेष भौगोलिक परिस्थिति में और विशेष ऐतिहासिक परम्परा के भीतर से मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने के लिए इस देश के लोगों ने भी कुछ प्रयत्न किये हैं। जितने अंश में वह प्रयत्न संसार के अन्य मनुष्यों के प्रयत्न का अविरोधी है, उतने अंश में वह उनका पूरक भी है। भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न जातियों के अनुभूत और साक्षात्कृत अन्य अविरोधी धर्मों की भाँति वह मनुष्य की जययात्रा में सहायक है। वह मनुष्य के सर्वोत्तम को जितने अंश में प्रकाशित और अग्रसर कर सका है, उतने ही अंश में वह सार्थक और महान् है। वही भारतीय संस्कृति है। उसको प्रकट करना, उसकी व्याख्या करना या उसके प्रति जिज्ञासा-भाव उचित है। यह प्रयास अपनी बड़ाई का प्रमाणपत्र संग्रह करने के लिए नहीं है, बल्कि मनुष्य की जय-यात्रा में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से प्रेरोचित है। इसी महान् उद्देश्य के लिए उसका अध्ययन, मनन और प्रकाशन होना चाहिए।

मनुष्य की जययात्रा! क्या मनुष्य ने किसी अज्ञात शत्रु को परास्त करने के लिए अपना दुर्द्धर रथ जोता है? मनुष्य की जययात्रा! क्या जान-बूझकर लोकचित्त को व्यामोहित करने के लिए यह पहेली-जैसा वाक्य बनाया गया है? मनुष्य की जययात्रा का क्या अर्थ हो सकता है? परन्तु मैंने पाठकों को किसी प्रकार

Sri Pratap Singh Library
CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के शब्द-जाल में उलझाने का संकल्प नहीं किया है। मुझे यह वाक्य सचमुच बड़ा बल देता है। न जाने किस अनादि काल के एक अज्ञात मुहूर्त्त में यह पृथ्वी नामक ग्रहपिण्ड सूर्य-मण्डल से टूटकर उसीके चारों ओर चक्कर काटने लगा था। मुझे उस समय का चित्र कल्पना के नेत्रों से देखने में बड़ा आनन्द आता है। उस सद्यस्त्रुटित धरित्री-पिण्ड में ज्वलन्त गैस भरे हुए थे। कोई नहीं जनता कि इन असंख्य अग्निगर्भकणों में से किसमें या किनमें जीवतत्त्व का अंकुर वर्त्तमान था। शायद वह सर्वत्र परिव्याप्त था। इसके बाद लाखों वर्ष तक धरती ठंढी होती रही; लाखों वर्ष तक उसपर तरल-तप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा होती रही; लाखों वर्ष तक उसके भीतर और बाहर प्रलयकाण्ड मचा रहा; पृथ्वी अन्यान्य ग्रहों के साथ सूर्य के चारों ओर उसी प्रकार नाचती रही, जिस प्रकार खिलाड़ी के इशारे पर सरकस के घोड़े नाचते रहते हैं। जीवतत्त्व स्थिर अविक्षुब्ध भाव से उचित अवसर की प्रतीक्षा में बैठा रहा। अवसर आने पर उसने समस्त जड़शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करके सिर उठाया—नगण्य तृणांकुर के रूप में! तबसे आज तक संपूर्ण जड़शक्ति अपने आकर्षण का समूचा वेग लगाकर भी उसे नीचे की ओर नहीं खींच सकी। सृष्टि के इतिहास में यह एकदम अघटित घटना थी। अब तक महाकर्ष (ग्रेविटेशन पावर) के विराट् वेग को रोकने में कोई समर्थ नहीं हो सका था। जीवतत्त्व प्रथम बार अपनी ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति की अदना ताकत के बल पर इस महाकर्ष को अस्वीकार कर सका। तबसे वह निरन्तर अग्रसर होता गया। मनुष्य उसी की अंतिम परिणति है। वह एक कोश से अनेक कोशों के जटिल संघटन में, कर्मेन्द्रियों से ज्ञानोन्द्रियों की ओर, ज्ञानेन्द्रिय से मन और बुद्धि की तरफ संकुचित होता हुआ मानवात्मा के रूप में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रकट हुआ। पंडितों ने देखा है कि मनुष्य तक आते-आते, प्रकृति ने अपने कारखाने में असंख्य प्रयोग किये हैं। पुराने जन्तुओं की विशाल ठठरियाँ आज भी यत्र-तत्र मिल जाती हैं और उन असंख्य प्रयोगों की गवाही दे जाती हैं। प्रकृति अपने प्रयोगों में कृपण कभी भी नहीं रही है। उसने बरबादी की कभी परवाह नहीं की। दस वृक्षों के लिए वह दस लाख बीज बनाने में कभी कोताही नहीं करती। यह सब क्या व्यर्थ की अंधता है, सुस्पष्ट योजना का अभाव है या हिसाब न जानने का दुष्परिणाम है? कौन बतायेगा कि किस महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रकृति ने इतनी बरबादी सही है? हम केवल इतना ही जानते हैं कि जब जीवतत्त्व समस्त विघ्न-बाधाओं को अतिक्रम करके मनुष्य-रूप में अभिव्यक्त हुआ, तब इतिहास ही बदल गया। जो कुछ जैसा होना है, वह होकर ही रहेगा—यही प्रकृति का अचल विधान है। कार्य कारण बनता है और नये कार्य को जन्म देता है। कार्य-कारणों की इस निरंध्र ठोस परम्परा में इच्छा का कोई स्थान नहीं था। जो जैसा होने को है, वह होकर ही रहेगा। इसी समय मनुष्य आया। उसने इस साधारण नियम को अस्वीकार किया। उसने अपनी इच्छा के लिए न जाने कहाँ से एक फाँक निकाला। जो जैसा है वैसा ही मान लेने की विवशता को उसने नहीं माना; जैसा होना चाहिए, वही बड़ी बात है। इस जगह से सृष्टि का दूसरा अध्याय शुरू हुआ। एक बार कल्पना कीजिए, तरल-तप्त धातुओं के प्रचण्ड समुद्र की, निरन्तर झरनेवाले अग्नि-गर्भ-मेघों की, विपुल जड़-संघात की, और फिर कल्पना कीजिए क्षुद्रकाय मनुष्य की! विराट् ब्रह्माण्ड-निकाय, कोटि-कोटि नक्षत्रों का अग्निमय आवर्त्त नृत्य, अनन्त शून्य में निरन्तर उद्भूयमान और विनशमान नीहारिका-पुञ्ज विस्मयकारी हैं; पर उनसे अधिक विस्मयकारी है मनुष्य, जो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नगण्य स्थान-काल में रहकर इनकी नाप-जोख करने निकल पड़ा है ! क्या मनुष्य इस सृष्टि की अन्तिम परिणति है ? क्या विधाता ने केशवदास के बीरबल की भाँति इस कृती जीव की रचना करके हाथ झाड़ लिया है—मैं करतार बली बलवीर दियो करतार दुहूँ कर तारी ! कौन कह सकता है ? परन्तु यह क्या मनुष्य की अमोघ जययात्रा नहीं है ? क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि समस्त गलतियों के बावजूद मनुष्य मनुष्यता की उच्चतर अभिव्यक्तियों की ओर ही बढ़ रहा है।

यह जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है; जो कुछ जैसा होनेवाला है, उसको वैसा ही मानकर जैसा होना चाहिए, उसकी ओर जाने का प्रयत्न है, यही मनुष्य की मनुष्यता है। अनेक बातों में मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं है। मनुष्य पशु की अवस्था से ही अग्रसर होकर इस अवस्था में आया है। इसलिए वह स्थूल को छोड़कर रह नहीं सकता। यही कारण है कि मनुष्य को दो प्रकार के कर्त्तव्य निबाहने पड़ते हैं—एक स्थूल की क्षुधा निवृत्त करना और दूसरा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर बढ़नेवाली अपनी ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति को सन्तुष्ट करना। आहार-निद्रा आदि के साधन भी मनुष्य को जुटाने पड़े हैं। यद्यपि मनुष्य-बुद्धि ने इनमें भी कमाल का उत्कर्ष दिखाया है, पर प्रयोजन प्रयोजन ही है। प्रयोजन के जो अतीत हैं, जहाँ मनुष्य की आनंदिनी वृत्ति ही चरितार्थ होती है, वहाँ मनुष्य की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति को सन्तोष होता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य संघबद्ध होकर रहने का अभ्यस्त होता गया त्यों-त्यों उसे सामाजिक संगठन के लिए नाना प्रकार के नियम-कानून बनाने पड़े। इस संगठन को दोषहीन और गतिशील बनाने के लिए उसने दण्ड-पुरस्कार की व्यवस्था भी की, इन बातों को एक शब्द में सभ्यता कहते हैं। आर्थिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

व्यवस्था, राजनैतिक संघटन, नैतिक परम्परा और सौन्दर्यबोध को तीव्रतर करने की योजना—सभ्यता के इन चार स्तंभों के सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति बनती है। सभ्यता मनुष्य के बाह्य प्रयोजनों को सहजलभ्य करने का विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत आन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति। परन्तु शायद फिर मैं पहेलियों की बोली बोलने लगा हूँ। आप जानना चाहेंगे कि यह बाह्य प्रयोजन और आन्तर अभिव्यक्ति क्या बला हैं? किसको तुम बाह्य कहते हो और किसको आन्तर; तुम्हारे कथन में प्रमाण क्या है?

यह जो हमारे बाह्यकरण हैं—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय हैं—ये हमारे अत्यन्त स्थूल प्रयोजनों के निवर्तक हैं। मन इनसे सूक्ष्म है, बुद्धि और भी सूक्ष्म है। मन से हम हजार गज की लम्बाई की भी एकाएक धारणा नहीं कर सकते; पर बुद्धि द्वारा ज्योतिषी कोटि-कोटि प्रकाश वर्षों में फैले हुए ग्रह-नक्षत्रों की नाप-जोख किया करते हैं। परन्तु बुद्धि भी बड़ी चीज नहीं है। बुद्धि से भी बढ़कर कोई वस्तु है। वही अन्तरतम है। गीता में कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धेर्योबुद्धेः परतस्तु सः।

जो वस्तु केवल इन्द्रियों को सन्तुष्ट कर सके, वह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। जो वस्तु मन को सन्तुष्ट कर सके, अर्थात् हमारे भावावेगों को संतोष दे सके, वह पहली से सूक्ष्म होने पर भी बहुत बड़ी नहीं है। जो बात बुद्धि को सन्तोष दे सके, वह जरूर बड़ी है; पर वह भी बाह्य है। बुद्धि से भी परे कुछ है। वही वास्तव है, उसका संतोष ही काम्य है। परन्तु वह क्या है? मैं भारतीय मनीषा के इस मन्तव्य तक आपको ले आकर यह आशा नहीं कर रहा हूँ कि आप शास्त्रवाक्य पर विश्वास कर लें। मैं इसके निकट आपको ले आकर छोड़ देता हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि यहाँ तक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आकर आप इसकी गहराई में पैठने का प्रयत्न अवश्य करेंगे। जब तक इसकी गहराई में पैठने का प्रयत्न नहीं किया जाता तब तक मनुष्य के बड़े-बड़े प्रयत्नों का रहस्य समझ में नहीं आयगा।

तैत्तरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में वरुण के पुत्र भृगु की मनोरंजक कथा दी हुई है। भृगु ने जाकर वरुण से कहा था कि हे भगवन्, मैं ब्रह्म को जानना चाहता हूँ। पिता ने तप करने की आज्ञा दी। कठिन तपस्या के बाद पुत्र ने समझा—अन्न ही ब्रह्म है। पिता ने फिर तप करने को कहा। इस बार पुत्र कुछ और गहराई में गया। उसने प्राण को ही ब्रह्म समझा। पिता को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने पुत्र को पुनः तप करने के लिए उत्साहित किया। पुत्र ने फिर तप किया और समझा कि मन ही ब्रह्म है! पिता फिर भी असंतुष्ट ही रहे। फिर तप करने के बाद पुत्र ने अनुभव किया—विज्ञान ही ब्रह्म है। पर पिता को अब भी संतोष नहीं हुआ। पुनर्वार कठिन तप के बाद पुत्र ने समझा—आनंद ही ब्रह्म है। यही चरम सत्य था। इस प्रकार अन्न (भौतिक पदार्थ)—प्राण—मन—विज्ञान (बुद्धि)—आनंद (अध्यात्म तत्त्व)—ये ही ज्ञान के पाँच स्तर हैं। ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। इन्हीं पाँचों को आश्रय करके संसार के भिन्न-भिन्न दार्शनिक मत बने हैं। साधारणतः इनको आश्रय करके दो-दो प्रकार के मत बन जाते हैं। तर्काश्रित मत और विश्वास-समर्पित मत। संदेह को उद्रिक्त करनेवाला तर्काश्रित मत फिलासफी का प्रतिपाद्य मत बन गया है और विश्वास को आश्रय करके श्रद्धा को उद्रिक्त करनेवाला मत धर्म विज्ञान का। भारतवर्ष का इतिहास अन्य देशों से कुछ विचित्र रहा है। सभ्यता के उषःकाल से लेकर आधुनिक काल के आरंभ तक हमारे इस देश में नाना मानव-समूहों की धारा बराबर इस देश में आती रही है। इसमें सभ्य, अर्द्धसभ्य और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बर्बर सभी श्रेणी के मनुष्य रहे हैं। भारतीय मनीषी शुरू से ही मनुष्य के बहुविधि विश्वासों और मतों को जानने का अवसर पा सके हैं। इसीलिए यहाँ धर्म, विज्ञान और तत्त्व-जिज्ञासा कभी परस्पर विरोधी मत नहीं माने गये। भारतीय ऋषि ने दोनों का उचित सामंजस्य किया है। शायद इस विषय में भारतवर्ष सारे संसार को कुछ दे सकता है। भारतवर्ष के दार्शनिक साहित्य के आलोचकों को आश्चर्य हुआ है कि इस देश में उस चीज का कभी विकास ही नहीं हो पाया, जिसे फिलासफी कहते हैं। भारतवर्ष के दर्शन धर्म पर आधारित बनाये गये हैं। 'दर्शन' शब्द का अर्थ ही देखना है। इसका अन्तर्निहित अर्थ यह है कि 'दर्शन' कुछ सिद्ध महात्माओं के देखे हुए (साक्षात्कृत) सत्यों का प्रतिपादन करते हैं। जैसा कि हमने अभी लक्ष्य किया है, यह 'देखना' तब वास्तविक होगा जब वह केवल इंद्रिय द्वारा, प्राण द्वारा, मन द्वारा यहाँ तक कि बुद्धि द्वारा भी दृष्ट स्थूल तथ्यों को पीछे छोड़कर उस वस्तु के द्वारा देखा गया हो जो आनन्दस्वरूप है, जो सबके परे और सबसे सूक्ष्म है। यही स्वसंवेद्य ज्ञान है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ भी अनुभव करता है, वह सत्य ही है। शरीर और मन की शुद्धि आवश्यक है। जब तक मनुष्य का बाहर और भीतर शुद्ध, निर्मल और पवित्र नहीं होते तब तक वह गलत वस्तु को सत्य समझ सकता है। चंचल मन से कोई मामूली समस्या भी ठीक-ठीक समाहित नहीं होती। यह जो बाह्य और अन्तःकरणों की शुद्धि है, यही भारतीय दर्शनों की विशेषता है। जैसे-तैसे रहकर, जैसा-तैसा सोचकर बड़े सत्य को अनुभव नहीं किया जा सकता। चंचल चित्त केवल विकृत चिन्ता में ही लगा रहता है। भारतीय मनीषियों ने इस चंचल चित्त को वश करने के उपाय बनाये हैं। इसी उपाय का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नाम योग है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि यद्यपि मन बड़ा चंचल है और उसे वश में करना कठिन है तथापि अभ्यास और वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है। अभ्यास और वैराग्य के लिए भारतीय साहित्य में शताधिक ग्रन्थ वर्तमान हैं। संभवतः सारे संसार के बुद्धिजीवी इस विषय में यहाँ से कुछ सीख सकते हैं। केवल बौद्धिक विश्लेषण द्वारा सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। सर्वत्र अभ्यास और वैराग्य आवश्यक हैं।

हमने अभी जिन पाँच तत्त्वों को लक्ष्य किया, उनमें सबसे स्थूल है यह शरीर, फिर प्राण और फिर मन। शरीर का प्रतीक विंदु है। भारतीय मनीषियों ने अनुभव किया है कि इनमें से किसी एक को संयत करने का अभ्यास किया जाय तो बाकी संयत हो जाते हैं। भारतवर्ष के नाना आध्यात्मिक पंथ इन तीनों को संयत करने के ऊपर जोर देने के कारण अलग-अलग हो गये हैं। संयमन की विधि भी सर्वत्र एक नहीं है। नाना बौद्ध और शक्ति साधनाओं में विन्दु को वश में करने की विधियाँ बताई गई हैं, हठयोग प्राण को वश करने के पक्ष में है, राजयोग मन को वश करने की विधि बताता है। ये सब अभ्यास द्वारा सिद्ध होते हैं। ऊपर-ऊपर से देखनेवाले आलोचक भारतीय साधनमार्गों में इतना अधिक भेद देखते हैं कि उन्हें समझ में ही नहीं आता कि ये विभिन्न पंथ किस प्रकार अपने को एक ही मूल उद्गम से उद्भूत बताते हैं। गहराई में जानेवाले के लिए ये विरोध नगण्य हैं। नाना भाँति के अभ्यास के द्वारा साधक विंदु, प्राण और मन को स्थिर करता है। तब जाकर अन्तःकरण निर्मल स्फटिक मणि के समान होता है; परन्तु यहाँ भी भ्रान्ति का अवकाश रहता है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने केवल अभ्यास को ही एकमात्र साधन नहीं माना। अभ्यास के साथ वैराग्य होना चाहिए। राग-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

द्वेष-वश जो इन्द्रियचाञ्चल्य होता है, उसको रोकना, राग और विराग के विषयों को अलग-अलग समझ सकना, मन द्वारा विषयों की चिन्ता और अन्त में मानसिक उत्सुकता को दबा देना—ये सब वैराग्य के भेद हैं ; परन्तु असली वैराग्य तब होता है जब अन्तरात्मा समस्त इंद्रियार्थों से और मन-बुद्धि आदि सब तत्वों से अपने को पृथक् समझ लेता है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य से चित्त स्थिर होता है और बुद्धि निर्मल होती है—केवल उसी समय परम सत्य का साक्षात्कार होता है।

मेरा अनुमान है कि विचार का यह प्रकृष्ट पंथ है; परन्तु यह मेरा दावा नहीं है कि मैं इस बात को ठीक-ठीक समझ सकता हूँ। वस्तुतः यह साधना का विषय है ; परन्तु यह समझना कठिन नहीं है कि किसी बात की सचाई तक पहुँचने के लिए एक प्रकार के बौद्धिक वैराग्य की आवश्यकता है। संसार की समस्त जटिल समस्याएँ नित्य-प्रति और भी जटिलतर इसलिए होती जाती हैं कि इनपर विचार करनेवालों में मानसिक संयम और बौद्धिक वैराग्य का अभाव है। लोग अपने-अपने विशेष स्वार्थों और विचार-पद्धतियों के भीतर से दूसरों को देखने का प्रयास करते हैं और समस्याएँ और भी जटिलतर होती जाती हैं। बौद्धिक वैराग्य ही मनुष्य को संस्कृत बनाता है।

भारतवर्ष का साहित्य बड़ा विशाल और विपुल है। उसने ज्ञान और साधना के क्षेत्र में नाना भाव से विचार किया है। मैं सबकी चर्चा करने योग्य अधिकारी भी नहीं हूँ और यहाँ इतना समय भी नहीं है; परंतु इतना स्मरण कर लेना उचित है कि यह जो आध्यात्मिक परमसत्य की उपलब्धि है और जिसके लिए शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक संयम और वैराग्य की बात बताई गई है—सिर्फ यही एकमात्र काम्य नहीं बताया गया। यद्यपि यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

परमोत्तम लक्ष्य है, पर इस लक्ष्य की पूर्ति के पहले प्रत्येक व्यक्ति को कुछ ऋण चुका लेने पड़ते हैं। बहुत थोड़े लोगों को इन ऋणों से छुटकारा दिया गया है। अधिकांश लोग इन ऋणों को चुकाये बिना किसी भी बड़ी साधना के अधिकारी नहीं हो सकते।

भारतीय विश्वास के अनुसार मनुष्य तीन प्रकार के ऋणों को लेकर पैदा होता है। ये तीन ऋण हैं—देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण। पैदा होते ही मनुष्य अपने सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियों को पा जाता है। ये इन्द्रियाँ उसे न मिलतीं तो न तो वह संसार का कुछ आनंद ही उपभोग कर सकता, न कुछ नया दे ही सकता। निश्चय ही वह माता-पिता के निकट इसके लिए ऋणी है। परन्तु वस्तुतः वह अनादिकालीन धारा का परिणाम पितृ-पितामहों ने उसे जो शरीर दिया है, उसका क्या कोई प्रतिदान दे सकता है? भारतीय मनीषी ने इसका एकमात्र उपाय यह बताया है कि मनुष्य इसे ऋण के रूप में स्वीकार कर ले और पितृ पितामहों की इस धारा को आगे बढ़ा दे। धारा रुद्ध न होने पावे। कौन जानता है, भविष्य में उसी धारा में कौन कृती बालक पैदा होकर संसार को नयी रोशनीःदे। इसलिए शास्त्रकारों ने पितृऋण से मुक्ति पाने का उपाय सन्तान उत्पन्न करना और उन्हें शिक्षित बनाकर समाज के हाथों सौंप जाने को बताया है। फिर मनुष्य पैदा होते ही अनेक विद्वानों और विज्ञानियों की आविष्कृत ज्ञान-राशि को सहज ही पा जाता है। हर व्यक्ति को नये सिरे से अगर अपना-अपना प्रयोग और आविष्कार चलाना पड़ता तो मनुष्य की यह दुनिया कैसी बन गयी होती, यह केवल सोचने की ही बात है। सो मनुष्य इस प्रकार अतीत के ऋषियों का ऋण लिये हुए पैदा होता है। इसे चुकाने का उपाय ज्ञान की धारा की रक्षा और उसे अग्रसर कर देना है। विद्या पढ़ना और ज्ञानधारा को अग्रसर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

करना कोई कृतित्व नहीं है, सिर्फ कर्जा चुकाने का कर्तव्यपालनमात्र है। फिर अन्न को पैदा करनेवाली पृथ्वी, जल बरसानेवाले मेघ, प्रकाश देनेवाला सूर्य आदि प्राकृतिक शक्तियाँ—जिन्हें भारतीय मनीषी 'देवता' कहता है—हमें अनायास मिल गई हैं। भारतीय मनीषी ने इनके ऋण से मुक्ति पाने का उपाय बाँटकर भोग करना बताया है। जो तुम्हारे पास है, उसे सबको बाँट कर ग्रहण करो। सो ये तीन ऋण मनुष्य के ऊपर जन्म से ही लदे आते हैं। इन तीन ऋणों को चुकाये बिना मोक्ष पाने का प्रयत्न पाप है। भारतवर्ष में प्रत्येक व्यक्ति से यह कम-से-कम आशा की गयी है कि वह समाज को स्वस्थ और शिक्षित सन्तान दे, प्राचीन ज्ञान-परंपरा की रक्षा करे और उसे आगे बढ़ाने का प्रयत्न करे और प्राकृतिक शक्तियों से प्राप्त संपद् को निजी समझकर दबा न रखे। ये ऋण हैं। मनुस्मृति के छठवें अध्याय में कहा गया है कि जो इनको चुकाये बिना ती मोक्ष की कामना करता है,वह अधःपतित होता है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

जब तक ये ऋण चुका नहीं दिये जाते तब तक मनुष्य को बड़ी बात सोचने का अधिकार नहीं है।

भारतवर्ष ने एशिया और यूरोप के देशों को अपनी धर्म-साधना की उत्तम वस्तुएँ दान दी हैं। उसने अहिंसा और मैत्री का संदेश दिया है, क्षुद्र दुनियाबी स्वार्थों की अपेक्षा करके विशाल आध्यात्मिक अनुभूतियों का उपदेश दिया है और उनसे जिन बातों को ग्रहण किया है वे भी उसी प्रकार महान् और दीर्घस्थायी रही हैं। उच्चतर क्षेत्र के आदान-प्रदान के ठोस चिह्न अब भी इस भमि के नीचे से निकलते रहते हैं और विदेशों में मिल जाया करते हैं। हमारा धर्म-विज्ञान, हमारा मूर्ति और मन्दिर-शिल्प,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हमारा दर्शन-शास्त्र, हमारे काव्य और नाटक हमारी चिकित्सा और ज्योतिष संसार में गये हैं, सम्मानित और स्वीकृत हुए हैं और संसार की उच्च चिंताशील जातियों से थोड़ा-बहुत प्रभावित भी हुए हैं। मैं आज आपको उस दिव्य लोक की सैर नहीं करा सका जहाँ भारतीय आचार्य पर्वतों और रेगिस्तानों को लाँघ कर अहिंसा और मैत्री का संदेश देते हैं, जहाँ हमारे शिल्पी गांधार और यवन कलाकारों के साथ मिलकर पत्थर में जान डाल रहे हैं, जहाँ अरब और ईरान के मनीषियों के साथ मिलकर वे चिकित्सा और ज्योतिष का प्रचार कर रहे हैं, जहाँ मलय और यवद्वीप में वहाँ के निवासियों से मिलकर शिल्प और कला में नया प्राण संचार कर रहे हैं। मैं उस परम मोहक लोक में आपको न ले जाकर शास्त्रीय नीरस विचारों में उलझाये रहा; परन्तु इसके लिए मुझे क्षमा माँगने की जरूरत नहीं है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि भारतीय मनीषियों ने अपने देशवासियों में जीवन के आवश्यक कर्तव्यों, संयम और वैराग्य की महिमा और स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की ओर झुकने का जो प्रेम पैदा किया उसका ही परिणाम है कि भारतवर्ष दीर्घकाल तक पशुसुलभ क्षुद्र स्वार्थों का गुलाम नहीं बन सका। आज हम सांस्कृतिक दृष्टि से जो बहुत नीचे गिर गये हैं, उसका प्रधान कारण यही है कि हम इस महान् आदर्श को भूल गये हैं। मेरा विश्वास है कि इन आदर्शों को नयी परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर ग्रहण करने से हम तो ऊपर उठेंगे ही, सारे संसार को भी उसमें कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य मिलेगा जिससे उसे वर्तमान प्रलयंकर अवस्था से उबरने का मौका मिले।

भारतवर्ष ने सामान्य मानवीय संस्कृति को पूर्ण और व्यापक बनाने की जो महती साधना की है, उसके प्रत्येक पहलू का अध्ययन और प्रकाशन हमारा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्तव्य होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नीति-मार्ग पर दृढ़ रहना आवश्यक है

भारतवर्ष विदेशी शासन से मुक्त हो गया है। इस मुक्ति के पीछे हमारे देश का बड़ा ही रोमहर्षक इतिहास है। लाखों जेल में सड़ते रहे हैं, हजारों घुल-घुलकर मर गये हैं, सैकड़ों फाँसी पर लटक गये हैं, अपार कष्टों से भरा हमारा मुक्ति-संग्राम अब समाप्त हुआ है। अपनी पराधीनता और बेबसी के दिनों में भी एक बात में हम बराबर विरोधियों से बीस रहे हैं। हममें उनकी अपेक्षा कहीं अधिक नैतिक बल रहा है, घोर विपत्ति के क्षणों में भी हमनें अन्याय का पक्ष कभी नहीं लिया है, जिस बात को हम सत्य समझ रहे हैं उसके लिए बड़ा से बड़ा बलिदान देने को तैयार भी रहे हैं। हमने निर्भीक भाव से, गर्व के साथ अपना मस्तक उन्नत रखा है। यही कारण है कि हम केवल जीतते ही गये हैं। महात्मा गाँधी जैसे युगावतार का नेतृत्व वरण करने की शक्ति और बुद्धिमत्ता हममें बराबर बनी रही है। अपने आचरण और वक्तव्यों से हमने एशिया और अफ्रिका के करोड़ों अधिवासियों और अन्य दुखी मनुष्यों में आशा और उत्साह का संचार किया है। जिन लोगों ने इस अपूर्व मुक्ति-संग्राम को निरपेक्ष भाव से देखा है वे इसके नैतिक स्तर को देखकर चकित रह गये हैं। किस प्रकार इस हीन अवस्था में भी भारतवर्ष इतना उन्नत रह सका ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हमारे पूर्वज महापुरुषों ने शत्रु के भी गुणों का बखान करने की सलाह दी है। शत्रोरपि गुणा वाच्याः। हमें अंग्रेजों-जैसा शत्रु मिला था। अंगरेज में हजार दोष हों, एक बड़ा भारी गुण भी है। उसे लाज-शर्म है। वह अन्याय करता जरूर था; पर उस अन्याय से लज्जित भी होता था। क्योंकि उसकी परम्परा महान् है और उसके साहित्य में उदात्त गुणों की प्रतिष्ठा है—बहुत-कुछ भारतवर्ष-जैसा ही। हमारा साहित्य और भी विशद है, और भी धर्म-मूलक है और हमारी परम्परा और भी महान् है, और भी उदार है। हममें भी लाज-हया बहुत है, नित्य समाचार-पत्रों में हम अपने नंगे विरोधियों को देखते हैं जो झूठ बोलने में जरा भी संकुचित नहीं होते और पाप करके दूसरों पर निर्लज्जतापूर्वक दोषारोपण करते हैं। सुनकर हमारा खून खौल जाता है। हम सोचते हैं कि ऐसा भी बेहया कोई हो सकता है! कभी-कभी हम झुँझलाते हैं, अपने नेताओं के सदुपदेशों से चिढ़ जाते हैं; कह उठते हैं, बेहया लोगों के सामने इन उपदेशों का क्या मूल्य है? पर सही बात यह है कि हम बहुत अधिक बेहया हो नहीं सकते। उस रास्ते हम चाहें भी तो बढ़ नहीं सकते। हमारी हजारों वर्षों की संस्कृति हमारा पैर जकड़ देती है। हमारा उदार साहित्य हमें लज्जित करता है। मुँह से हम चाहे जितना चिढ़ लें और कुढ़ लें; नंगई और निर्लज्जता हमारे रक्त में है ही नहीं। जब कभी वह आती है, क्षणिक आगन्तुक के रूप में ही आती है।

यह सचाई है। यही वास्तविकता है। जो हम हो नहीं सकते उसके लिए प्रयत्न करना बेकार है। हम क्रूर और निर्लज्ज तो होने से रहे। उत्तेजना में हम कभी घोर अन्याय कर सकते हैं; परन्तु निश्चित रूप में हम बाद में पछताएँगे। चुटकी बजाके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हजारों वर्ष की संस्कृति को उड़ाया नहीं जा सकता। हम यह नहीं कह सकते कि हममें दोष नहीं हैं। दोष एक-दो हैं? हमने कम पाप किये हैं? करोड़ों को हमने अनजान में नीच बना रखा है, करोड़ों को जान-बूझकर पैरों तले दबा रखा है, और करोड़ों को हमने उपेक्षा से महान् सन्देशों के अयोग्य समझ रखा है। नतीजा यह होता है कि जब हम आगे बढ़ने लगते हैं तब कुछ लोग नीचे की ओर खींचते हैं—जिन्हें पैरों तले दबाया है, वे कैसे आगे बढ़ने देंगे?—और कुछ लोग पीछे की ओर खींचते हैं। सो, दोष तो हममें बहुत हैं; उसी संस्कृति और साहित्य ने इन दोषों को भी पाला-पोसा है। उसको खोलने से क्या फायदा है? यह शतच्छिद्र चादर खोलकर दिखाने की चीज नहीं है, इसको तह लगाकर रख देना ही अच्छा है—'अयं पटः संवृत एव शोभते।' परन्तु यह सब होते हुए भी हमारी परम्परा महान् और उदार है; हमारा साहित्य विशद और धर्ममूलक है। हम अपने इन दोषों के लिए लज्जित होते हैं और जिसमें लाज-हया बच रही है उसकी रक्षा इतिहास-विधाता बराबर करते आये हैं। यह हमारी विशाल सांस्कृतिक महिमा का ही प्रभाव है कि हम अन्याय करके लज्जित होते हैं। और अगर यह लज्जा सच्ची हुई तो हम अन्याय का प्रतिकार भी कर सकते हैं। लाज-शर्म का रहना अच्छा है, अन्याय करके पछताने की आदत बुरी नहीं है। वैसे, सबसे अच्छी बात तो यह होती कि हम अन्याय करते ही नहीं। लेकिन आदमी आदमी ही है। कभी-कभी उत्तेजित भी होता है, कभी-कभी लज्जित भी होना चाहिए। बुरा है, लेकिन यह बुराई लंगई से अच्छी है।

मुक्ति का संग्राम जिन दिनों चल रहा था, उन दिनों हमें महान् शत्रु मिला था। वह गुस्से में हमें कसकर मारता था; लेकिन फिर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पछताता था और अवसर मिलने पर वीरता का सम्मान वीर की ही भाँति करता था। मुक्ति का संग्राम समाप्त होते ही हमें दूसरे प्रकार के शत्रुओं से पाला पड़ा है। कुछ तो ऐसे लंगे हैं कि 'राम राम' कहने के सिवा कुछ दूसरा सूझता ही नहीं। कुछ ऐसे काइयाँ हैं कि बस मुँह में राम, बगल में छुरी। इन सबके साथ निबटना है। निबटना तो होगा ही। दुश्मन-दुश्मन है। घर में हो तो, बाहर हो तो। और भारतवर्ष का सबसे विकट शत्रु वह है जो लाज-हया का नाम नहीं जानता; जो झूठ बोलकर गर्व करता है; जो छुरा भोंककर हँसा करता है। जिसे धर्म-कर्म से कोई वास्ता नहीं, उससे उलझना हमारे लिए बड़ा कठिन होगा। रक्त में बेहयाई न हो तो उधार माँगने से थोड़े ही मिलेगी? और यही इस वीरप्रसू भूमि में महाकाल का कुण्ठ नृत्य शुरू होता है। हम अगर अब तक के साधे हुए महान् अस्त्र का उपयोग करते हैं तो पता नहीं हमें सफलता मिलेगी या नहीं। जब जंगली सूअर आँख मूँदकर आक्रमण करता है तब उसे सदुपदेशों से शान्त किया जा सकता है या नहीं? शायद किया जा सकता हो, शायद न किया जा सकता हो। मुझे एक मन्त्र-विशेषज्ञ की बात मालूम है। वे मन्त्रबल से सूअर क्या, बाघ को भी बाँध सकने का दावा करते थे परन्तु एक बार जब सचमुच ही सूअर के आक्रमण के शिकार हुए तबमन्त्र पर उनका विश्वास नहीं हुआ, हाथ की लाठी का ही सहारा लेना पड़ा। साधारण से कुछ ऊँचे पहुँचा हुआ आदमी भी भौतिक शक्तियों का कायल होता है। बहुत ऊँचे जो पहुँच सके हैं, उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। महात्मा गाँधी के इस देश में भी सचाई यही है।

बड़ी कठिन समस्या है। झूठी बातों को सुनकर चुप हो रहना ही भले आदमी की चाल है। परन्तु इस स्वार्थ और लिप्सा के जगत् में जिन लोगों ने करोड़ों के जीवन-मरण का भार कन्धे पर

४

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लिया है, वे उपेक्षा भी नहीं कर सकते। जरा-सी गफलत हुई कि सारे संसार में आपके विरुद्ध जहरीला वातावरण तैयार हो जायगा। आधुनिक युग का यह एक बड़ा भारी अभिशाप है कि गलत बातें बड़ी तेजी से फैल जाती हैं। समाचारों के शीघ्र आदान-प्रदान के साधन इस युग में बड़े प्रबल हैं और धैर्य और शान्ति से मनुष्य की भलाई के सोचने के साधन अब भी बहुत दुर्बल हैं। सो, जहाँ हमें चुप होना चाहिए वहाँ चुप रह सकना खतरनाक हो गया है। हमारा सारा साहित्य नीति और सचाई का साहित्य है। भारतवर्ष की आत्मा कभी दंगा-फसाद और टंटे को पसन्द नहीं करती; परन्तु इतनी तेजी से कूटनीति और मिथ्या का चक्र चलाया जा रहा है कि हम चुप बैठ नहीं सकते। अगर लाखों-करोड़ों को हत्या से बचाना है तो हमें टंटे में पड़ना ही होगा। हम किसी को मारना नहीं चाहते पर कोई हमपर अन्याय से टूट पड़े तो हमें जरूर कुछ करना पड़ेगा। हमारे अन्दर जो हया है और अन्याय करके पछताने की जो आदत है उसे कोई हमारी दुर्बलता समझे और हमें सारी दुनिया के सामने बदनाम करे, यह हमसे नहीं सहा जायगा। सहा जाना भी नहीं चाहिए। सो, हालत यह है कि हम सचाई और भद्रता पर दृढ़ रहते हैं और ओछे वाद-विवाद और गंदे-गंदे फसादों में नहीं पड़ते तो हमारे विरुद्ध संसार भर में जहरीला वातावरण तैयार किया जाता है; और उनमें उतर पड़ते हैं तो हजारों वर्षों के संस्कार बाधा देते हैं। इधर बढ़ते हैं तो उधर खिचना पड़ता है, उधर बढ़ते हैं तो इधर खिचना पड़ता है। राज-नीति कोई अजपा-जाप तो है नहीं। यह स्वार्थों का संघर्ष है। करोड़ों मनुष्य की इज्जत और जीवन-मरण का भार जिन्होंने उठाया है वे समाधि नहीं लगा सकते। उन्हें स्वार्थों के संघर्ष में पड़ना ही पड़ेगा। और फिर भी हमें स्वार्थी नहीं बनना है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हो कैसे? होना तो पड़ेगा ही इसे। हमने जब करोड़ों के जीवन की रक्षा का भार लिया है तब हम उनपर आँच नहीं आने देंगे, चाहे जो हो जाय। हमने जब करोड़ों दूर देश के दलित अधिवासियों के हृदय में आशा की ज्योति जगायी है, तब हम उन्हें निराश नहीं होने देंगे। हमने जब करोड़ों को विपत्ति और दासता से उबारने का वचन दिया है तब हम वचन-पालन अवश्य करेंगे—चाहे जितना भी कष्ट झेलना पड़े। 'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहि बरु बचन न जाई!' यही हमारी महनीय परम्परा का निचोड़ है। हम न अन्याय करेंगे, न होने देंगे। हमने विश्व-दरबार में अपना महत्त्वपूर्ण आसन ग्रहण किया है। न हम चुप रह सकते हैं, न गलत-बयानी कर सकते हैं। मनु भगवान ने दोनों को पाप कहा है—'अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्विषी।' सो किल्विषी—पाप भाजन तो हम नहीं होंगे। हमें स्वार्थ और परमार्थ में सामञ्जस्य तो खोजना ही पड़ेगा।

हमें महान् संयोग मिला है। हमारे पूज्य नेता ने दिखा दिया है कि बड़े-से-बड़े सत्य का व्यवहार से कोई विरोध नहीं है। निष्क्रिय रहकर सत्य की बातें बघारना आसान है। कार्य-क्षेत्र में—स्वार्थों की संघर्षस्थली में महान् आदर्शों की रक्षा करना कठिन काम है। और हमें वही करना है।

महाकाल असीम हैं, उनका नृत्य भी निर्बन्ध है। पर यह जगत् ससीम है। इसी सीमाओं से घिरे सम्पूर्ण विश्व में महाकाल को नृत्य करना पड़ रहा है। प्रसिद्ध नाटककार विशाखदत्त ने उस अद्भुत नृत्य की एक कल्पना की थी। अगर उद्दण्ड ताण्डव के आवेश में वे एक क्षण के लिए भी सन्तुलन खो देते हैं तो कहीं धरती धसक जाती है, कहीं दिङ्मण्डल लड़खड़ा उठता है और अगर एक निमेष के लिए भी लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर कर देते हैं तो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आग की चिनगारियों से दिगन्त चिनचिना उठता है। आधार छोटा हो तो अबाध नृत्य चलेगा कैसे ? तो, महाकाल इसलिए आधार को दृष्टि में रखकर कभी भुजाओं को समेटते हैं तो कभी पैरों को सँभाल लेते हैं—अद्भुत है यह कुण्ठ नृत्य। परन्तु यदि एक क्षण के लिए यह कुण्ठ नृत्य रुक जाय तो संसार अचल हो जाय, बाधाओं तथा विघ्नों के स्वरूप उसकी राह रोक लें। महाकाल को अपना यह ताण्डव चलाते ही रहना होगा। राजनीति में महान आदर्शों का पालन इस 'कुण्ठ-नृत्य' के समान ही है। हम केवल आशा कर सकते हैं कि इतिहास-विधाता हमारी रक्षा अवश्य करेंगे। हमें अपने आदेशों से कभी भी च्युत नहीं होना चाहिए। घृणा और द्वेष हमारा रास्ता नहीं है, अन्याय करना या किये अन्याय को बर्दाश्त करना हमारा स्वभाव नहीं है। हम दुर्बल की रक्षा करेंगे और अत्याचारी का विरोध करेंगे। इस महान् आदर्श के लिए हमें जूझना पड़ेगा, चोट सहनी पड़ेगी, लेकिन हम रुकेंगे नहीं। महाकाल नहीं रुकते। वे ही हमारे आदर्श हैं, क्योंकि हम इतिहास-निर्माण करने चले हैं। महान् परम्परा के जनक हैं! महान् भारतवर्ष, रुको मत! ठिठको मत! सत्य और न्याय पर दृढ़ रहो।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अंतःकरण की पवित्रता से ही उन्नति संभव

आजकल सर्वत्र उत्पादन बढ़ाने की चर्चा है। स्वाधीन भारत के सामने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। कोई भी काम धन के बिना नहीं हो सकता और धन के लिए यह जरूरी है कि हमारे खेत अधिक से अधिक अन्न उत्पन्न करें; हमारी खानें ज्यादा से ज्यादा खनिज पदार्थ दें; हमारे कल-कारखाने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर माल तैयार करें। हमें अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा भी हर प्रकार से करनी है; लेकिन देश की रक्षा होने मात्र से तो हमारा लक्ष्य सिद्ध नहीं हो जाता। हमारे बीच अज्ञान और कुसंस्कार का राज्य जब तक बना हुआ है तब तक 'स्वराज्य' का कोई अर्थ ही नहीं होता। हमें इतना धन अवश्य चाहिए जिससे हम सम्पूर्ण जनता को सच्चे अर्थ में शिक्षित बना सकें और उनके भीतर ऐसे महान् आदर्श के प्रति निष्ठा पैदा कर दें जो न तो अन्याय करना पसन्द करे और न अन्याय सहना। इस कार्य के लिए हमें सबसे पहले मनुष्य को उसकी प्राथमिक चिन्ताओं से मुक्त कर देना चाहिये। उसे रोटी की चिन्ता न हो, बीमार पड़ने पर दवा मिलने में कठिनाई न हो, बच्चों को स्कूल भेजने की सुविधा प्राप्त हो। इतना तो होना ही चाहिये, पर इतने के लिए भी जितने धन की आवश्यकता होगी, वह हमारे पास नहीं है। हमें उत्पादन बढ़ाने के सब तरीकों को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सोचना है। जो लोग उत्पादन बढ़ाने की बात कहते हैं वे ठीक ही कहते हैं।

लेकिन उत्पादन और धनसंचय किस लिए? प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन का उत्पादन तो ठीक है, मगर फिर भी प्रश्न रह जाता है, प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही किस परवर्ती उद्देश्य के लिए हो? क्या हमें सारे देश को यन्त्रपट् और दुस्साहसी बनाना है, क्या विश्वविजय के सपने चरितार्थ करने के लिए हमें इस तैयारी की जरूरत है? उत्पादन से क्या हम और भी अधिक उत्पादन को सुलभ और सुकर बनाना चाहते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर हमें देना होगा। क्योंकि लक्ष्यभ्रष्ट होकर हम कहीं के नहीं रहेंगे। सुख के बाह्य-साधन अपने आपमें बड़े नहीं हैं। वे यदि मनुष्य के उन महान् गुणों का विकास नहीं कर सकते जिन्हें युग-युग से हम 'महान्' मानते आ रहे हैं तो वे विनाश की ओर ले जायेंगे। मनुष्य में यदि विवेक नहीं जागृत हो सका; यदि उदारता, समता और संवेदनशीलता का विकास नहीं हुआ; यदि वह आत्मसम्मान और परसम्मान के महान् तत्त्वों को नहीं अपना सका; यदि उसमें सन्तोष और श्रद्धा का विकास नहीं हुआ तो वह 'पशु' से अधिक भिन्न नहीं है। लोभ-मोह को बढ़ावा देने से मनुष्य की 'मनुष्यता' ही आहत होती है। अनियन्त्रित धन-लिप्सा मनुष्य को पशु से भी अधिक निकृष्ट बना देती है।

सौभाग्यवश हमें ऐसा महान् नेता मिला था, जो हमें असंयम और अतिलोभ के विनाश से बचाने को प्रयत्नशील था; जिसने ऊपरी तड़क-भड़क की व्यर्थता और बाह्याडम्बर के ढकोसले का खोखलापन दिखा दिया था; जिसने आन्तरिक पवित्रता और सत्यनिष्ठा की महिमा प्रत्यक्ष करा दी थी। परन्तु यह इतिहास का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सबसे बड़ा निष्ठुर परिहास होगा, यदि हम अपने नेता के महान् उपदेशों की बात भूल जायँ। उत्पादन आवश्यक है, धन भी आवश्यक है; पर वह ऊपरी तड़क-भड़क; बाह्याडम्बर और दिखावे के लिए नहीं, भीतरी शान्ति और पवित्रता के लिए। हमारे नागरिक यदि इस आन्तरिक शुचिता को भूल जाते हैं तो हमारी उत्पादन-व्यवस्था कितनी भी अच्छी क्यों न हो, हमें विनाश की ओर ही ले जायगी।

इसीलिए हमें अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के उपाय सोचते समय शिक्षा और ज्ञान के प्रसार की बात को गौण स्थान नहीं देना चाहिए। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि जब तक देशवासियों का नैतिक बल नहीं बढ़ेगा; उनके भीतर पवित्रता और आदर्शनिष्ठा नहीं बढ़ेगी; तब तक बाह्य-व्यवस्थाएँ कितनी भी पूर्ण क्यों न हों, जड़ नहीं जमा सकेंगी। जिस शक्ति के पीछे विवेक और औदार्य नहीं होते, वह गलत दिशा में ले जाती है।

यह समझना भूल है कि हम अपने अतीत की एकदम उपेक्षा करके बड़े हो जायँगे। अतीत ही वर्तमान को जन्म देता है। उसके दोष-गुण से वर्तमान प्रभावित रहता है। हम अपनी उन महान् निधियों को नहीं भुला सकते जिन्होंने शताब्दियों तक मनुष्य को संयमी, सौन्दर्य-प्रेमी और संवेदनशील बनाया है; जिन्होंने हमारे पूर्वजों के अन्तर को धर्मभीरु और बाहर को दृढ़ बनाया था। हमारे पुराने ग्रन्थ, हमारे ऐतिहासिक भग्नावशेष और हमारी कलात्मक कृतियाँ हमें महान् और उदार बनाती हैं। उनकी ओर जितना भी अधिक ध्यान दिया जा सके उतना ही अच्छा होगा। युग-युग से मनुष्य को मनुष्योचित गुणों के प्रति निष्ठावान् बनानेवाली इन वस्तुओं के संरक्षण और प्रचार की व्यवस्था को भुलाना एकदम वाञ्छनीय नहीं है। जो लोग इस प्रकार तर्क करते हैं कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जिन देशों में ये वस्तुएँ नहीं हैं वे भी तो कम उन्नत नहीं हैं, वे दया के पात्र हैं। उन देशों के निवासियों के हृदय में पैठने की शक्ति उनमें नहीं है।

जिस प्रकार भौतिक पदार्थ के उत्पादन के लिए आवश्यक है कि हम अपनी समूची उत्पादन-शक्ति का परिपूर्ण उपयोग करें, उसी प्रकार अंतःकरण की पवित्रता और बाहरी संयम के लिए हमें नवीन और पुरातन समस्त उपलभ्य साधनों का उपयोग करना चाहिए। दोनों में समता बनी रहनी चाहिए। ऐसा न हो कि हम बाहरी बातों पर अधिक जोर देकर आन्तरिक पवित्रता की उपेक्षा कर दें। इसके लिए हमें उत्तम साहित्य के सृजन, प्रचार और प्रसार की व्यवस्था करनी चाहिए। एकांगी उन्नति लाभजनक नहीं हो सकती। जब तक हमारा अंतःकरण पवित्र नहीं होता, तब तक हम उन्नत और सभ्य नहीं हो सकेंगे।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शतायु होने की प्रार्थना

दीर्घकाल से हमारे देश के मानीषियों ने सौ वर्ष तक जीते रहने की प्रार्थना की है। हमारे सबसे प्राचीन ग्रंथ वेदों में ही ऋषियों की वाणी गूँजी है—जीवेम शरदः शतम्—हम सौ वर्ष जिएँ। स्पष्ट है कि यह प्रार्थना नयी नहीं है, बहुत पुरानी है। नित्य ही धार्मिक हिन्दू अपनी संध्या-पूजा के समय वेद की वाणी में भगवान से प्रार्थना करता है कि वह अदीन होकर सौ वर्ष तक जीता रहे। केवल जीने की प्रार्थना नहीं की गयी है। कार्य करने की शक्ति शिथिल हो गयी हो, विचार-विवेक का सामर्थ्य जाता रहा हो, दूसरों का मुहताज बनकर ही जीवित रहना पड़े तो इस जीवन से क्या लाभ? इसलिए उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है—'कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा रखे'—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जीवितेच्छतं शतं समाः। किसी-किसी टीकाकार ने सौ वर्ष का अर्थ कम-से-कम १२५ वर्ष किया है; क्योंकि यदि कर्म करते हुए जीवित रहना ही मनुष्य को वाञ्छनीय हो, तो उसकी शरीर-यात्रा के लिए कुछ विश्राम का समय अलग से देना चाहिए। यदि प्रतिदिन औसत ६ घंटे विश्राम के लिए हों तो इस हिसाब से सौ वर्ष के कर्ममय जीवन के लिए कम-से-कम २५ वर्ष विश्राम अलग से चाहिए। इस प्रकार १०० वर्ष के कर्ममय जीवन के लिए कम-से-कम १२५ वर्ष की आयु होनी चाहिए। परन्तु इस प्रकार की व्याख्या मंत्र के अक्षरार्थ पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बहुत जोर देने के कारण की गयी है। हमें मंत्र के अन्तर्निहित अर्थ पर अधिक ध्यान देना चाहिए। मध्य-युग के अनेक संस्कृत और भाषा-कवियों ने अपने जीवन के अधिकांश भाग को नींद में, लड़कपन में, वृद्धावस्था में और युवावस्था के भोग-विलास में नष्ट होते देख खेद प्रकट किया है। एक सुन्दर उदाहरण विद्यापति के इस भजन में मिलता है :—

माधव हम परिकाय निरासा।

आध जनम हम नींदे गमायनु, जरा सिसुकत दिन गेला।
विधुवन रहसि जुवति परिरंभन, तोहे भजब कौन बेला। माधव।

इस और इसी प्रकार के अन्य भजनों में भगवद्भक्ति को ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य माना गया है और उस महान् लक्ष्य से एक क्षण के लिए भी च्युत होने को खेदजनक समझा गया है।

लक्ष्यभ्रष्ट जीवन केवल दयनीय ही नहीं होता, वह समाज के लिए हानिकारक भी होता है। इसीलिए इस देश के विचारशील लोगों ने केवल सौ वर्ष तक जीवन की ही प्रार्थना नहीं की है, उसके साथ यह भी जोड़ दिया है कि उस जीवन के साथ जीवन का लक्ष्य सदा जुड़ा रहे। क्योंकि कार्य करता हुआ ही मनुष्य जीवित रहने की इच्छा करे। इस वाक्य का अर्थ यह नहीं हो सकता कि जो जी में आये वही कर्म करता हुआ मनुष्य जीवन-यापन करे। यह जीवन मनुष्य के उत्तम लक्ष्यों के अनुकूल होना चाहिए। ऐसा कर्म जो दूसरों के कष्टदायक हो, समाज के यथार्थ मंगल का बाधक और मनुष्यता के प्रतिकूल हो, कभी शास्त्र द्वारा समर्थित नहीं हो सकता। इसलिए कर्म तो ऐसा ही होना चाहिए जो मनुष्य जीवन के उच्चतर लक्ष्य के अनुकूल हो। साथ ही उसमें दैन्य का भाव नहीं आना चाहिए। दीनता उस मानसिक दुर्बलता को कहते हैं जो मनुष्य को दूसरे की दया पर जीने का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रलोभन देती है, जो मुहताज बनकर किसी की कृपा प्राप्त करने को सुविधाजनक मार्ग समझाती है। भारतवर्ष के श्रेष्ठ वीर अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं—दैन्य न दिखाना और भागना नहीं। वीरत्व के ये ही दो नाभि-केन्द्र हैं—अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्। दैन्य और पलायन मनुष्य के कर्ममय जीवन के विरुद्ध जाते हैं। वीरत्वपूर्ण मन से, धर्मानुकूल कर्म करते हुए ही मनुष्य को १०० वर्ष तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए।

भारतवर्ष नित्य ही इस प्रकार प्रार्थना करता रहा है। पर उसकी प्रार्थना फलवती नहीं हुई है। साधारण जनता धर्मानुकूल कार्य करते-करते सौ वर्ष जीने की अभिलाषा मन में चाहे पोषण करती हो पर वह न तो दैन्य से मुक्त हो सकी है, न कर्म के प्रति उत्साह ही जिलाये रख सकी है, और न सौ या सवा सौ वर्ष की औसत आयु ही पा सकी है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी एक कविता में भारतीय किसान को देखकर कहा है—"यह जो खड़ा है, सिर झुकाए, मुँह बंद किये—किसके म्लान मुख पर १००-१०० शताब्दियों की वेदना की करुण कहानी लिखी हुई है, कंधे पर जितना भी बोझ लाद दो मंदगति से तब तक ढोता जाता है जब तक उसमें प्राण बचे रहते हैं। उसके बाद सन्तान को दे जाता है वह बोझा, पीढ़ियों तक यही क्रम चलता है। अदृष्ट को दोष नहीं देता, देवता को स्मरण करता है, पर निंदा नहीं करता, किसी मनुष्य को भी दोष नहीं देता, मान-अभिमान करना जानता ही नहीं। सिर्फ अन्न के दो दाने खोंटकर किसी प्रकार अपने कष्टक्लिष्ट प्राणों को जिला रखता है। वह अन्न भी जब कोई छीनने लगता है, उस थके-थकाए प्राण को भी जब गर्वान्ध निष्ठुर अत्याचार चोट पहुँचाता है तो नहीं जानता कि न्याय पाने की आशा से किसके द्वार पर जाय। केवल दरिद्रों के भगवान को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उसाँसें भरकर एक बार पुकारता है और चुपचाप मर जाता है।" रवीन्द्रनाथ ने कविजनोचित भाषा में इस अत्यन्त दयनीय दशा का जो मर्मभेदक चित्र खींचा है वह सत्य है। क्यों ऐसा हुआ ? जिस देश के मनीषियों ने सहस्रों वर्ष पूर्व से वीरत्वपूर्ण चित्त से कर्म करते हुए १०० वर्ष तक जीवित रहने का पुनीत संकल्प घोषित किया उनके उत्तराधिकारी आज इस हीन अवस्थ को कैसे पहुँच गये ? इतना महान् संकल्प और उसकी ऐसी मर्म-विदारक अवस्था ! इन दोनों का सामंजस्य कहाँ है ?

बात यह है कि केवल प्रार्थना या संकल्प के महान् होने से ही काम नहीं बनता। उस संकल्प के पीछे दृढ़ कर्मशक्ति चाहिए। यदि हम केवल बड़ी इच्छाएँ ही मन में पोसते रहें तो उससे कुछ बड़ी सिद्धि नहीं मिल जायगी। संस्कृत के पुराने सुभाषित में कहा गया है कि सोये सिंह के मुँह में मृग स्वयं नहीं घुस जाया करते, इसके लिए उसे हाथ पैर मारना होता है, घात लगाए रहना पड़ता है, जुगत बाँधनी होती है। सिंह की इच्छा भी बड़ी हो सकती है, उसमें पराक्रम की मात्रा भी बहुत हो सकती है पर हाथ-पैर तो उसे हिलाना ही होगा—'नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।'

केवल संकल्प से काम नहीं चलता, उस संकल्प के अनुसार प्रयत्न भी चाहिए। दाम सबका चुकाना पड़ता है। बड़ी वस्तु का दाम भी बड़ा होता है। और वीरत्वपूर्ण चित्त से कर्म करते हुए सौ वर्ष तक अदीन जीवन निस्सन्देह बहुत बड़ी वस्तु है। उसे पाने के लिए उतना ही महान् त्याग और तप आवश्यक है। दुनियाँ में बड़ी-बड़ी बातों की महिमा किससे छिपी है ? कौन नहीं जानता कि तप बड़ी चीज है, त्याग बड़ी वस्तु है, ब्रह्मचर्य अच्छी चीज है ? यह भी नहीं कि लोग यह नहीं चाहते कि उनमें ये गुण आ जायँ। सब चाहते हैं कि लोग उन्हें त्यागी, तपी और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विवेकी समझें; पर कोई ऐसी बड़ी बाधा हमारा रास्ता रोक लेती है कि हम कुछ कर ही नहीं पाते। भागवत में प्रह्लाद ने भगवान से कहा था कि हे भगवान, मौन व्रत, शास्त्र-ज्ञान, अध्ययन, धर्माचरण, तप, समाधि और मुक्ति-तत्त्व ये सारी बातें उन लोगों के लिए केवल बहस की चीज बन जाती हैं जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर लिया। फिर जो लोग दंभी हैं उनके लिए तो यह बहश की भी बात नहीं होती :—

मौन व्रत श्रत तपोऽध्ययन स्व-धर्म
व्याख्यारहोजप समाधम आपवर्ग्याः
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युतन वात्र तु दांभिकानां।

यही ठीक है। जो अपने समस्त इन्द्रियसमूह को वश में नहीं कर लेता उस असंयमी पुरुष या स्त्री के सब बड़े संकल्प उसी प्रकार व्यर्थ होते हैं जिस प्रकार फूटे बर्तन में पानी सुरक्षित रखने का प्रयास व्यर्थ हो जाता है। इसलिए किसी भी महान् संकल्प के लिए दृढ़ संयम और निष्ठा सबसे पहली शर्त्त है। सौ वर्ष तक जीवित रहने के महान् संकल्प के लिए भी दृढ़ संयम आवश्यक है। जितेन्द्रियता चरित्रबल की कुंजी है। वस्तुतः आजकल जिसे चरित्रबल कहा जाने लगा है उसे ही पुराना भारतवासी जितेन्द्रियता कहता था। अपने आदर्शों के प्रति अविचल निष्ठा इसी गुण से आती है। महाभारत में कहा है कि कामवश, भयवश, लोभवश, यहाँ तक कि प्राण के लिए भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए।

न जातु कामोन्न भयान्न लोभाद्
धर्मंत्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः

यह अविचल निष्ठा तभी संभव है जब मनुष्य की अपनी इन्द्रियाँ अपने वश में हों। यह गुण अभ्यास से प्राप्त होता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दुर्भाग्यवश हमारे देश के शिक्षितों में भी इस गुण का अभाव भी बढ़ता जा रहा है। जितना भ्रष्टाचार इस समय देश में फैला हुआ है उतना शायद ही कभी रहा हो। प्रह्लाद ने जो कहा था कि अजितेन्द्रिय पुरुषों के लिए सब बड़ी-बड़ी बातें केवल बहस की बात रह जाती हैं, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारा शिक्षितवर्ग है। आप घंटों सत्य और अहिंसा पर धर्म और संस्कृति पर, नित्य व्याख्यान सुन सकते हैं, समाचारपत्रों में साहस और निष्ठा पर लेख पढ़ सकते हैं पर "कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न सा मतिः।" हमारे देश की सामूहिक समस्या इस समय चरित्रगत कमजोरी है। नीचे से ऊपर तक लोभ और भय का वीभत्स नृत्य देखकर हृदय काँप उठता है। चरित्रबल न रहे तो आदमी अपने संकल्प का अर्थ भी नहीं समझना चाहता। जो व्यक्ति यह प्रार्थना करे कि मैं दैन्यहीन होकर सौ वर्ष जीवन व्यतीत करूँ उसमें निस्सन्देह स्वाभिमान की मात्रा बहुत अधिक होगी। अब कोई स्वाभिमानी आदमी जो स्वयं दीनता-प्रकाशन को मनुष्य-जीवन का अभिशाप समझता हो, दूसरे को दीन बना कैसे सकता है? यदि हम शुद्ध चित्त से अपनी इस महती प्रार्थना के मर्मार्थ पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि जिस ऋषि ने इस महान् संकल्प को नित्य दुहराने की व्यवस्था की थी, उसने यह भी सोचा था कि जो लोग ऐसी प्रार्थना करेंगे वे दूसरे को दीन नहीं बनायेंगे। शोषण और परपीड़न के पाप की ओर उनकी दृष्टि नहीं जायगी।

पर हुआ उलटा। लोग प्रार्थना भी करते रहे और शोषण और परपीड़न का चक्का भी चलता रहा। प्रार्थना अपने रास्ते चलती गयी और दुनिया का व्यवहार अपने रास्ते चलता गया। और अब यह अवस्था हो गयी कि हमारे इस मौखिक संकल्प का कोई मूल्य ही नहीं रहा। हमारे देश की औसत आयु घटते-घटते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अब बीस वर्ष के आस-पास रह गयी है। इतने बड़े संकल्प की क्या यही गति होनी चाहिए थी? पर क्षोभ चाहे जितना हो, वस्तुस्थिति यही है। बड़ी-बड़ी बातों के घोखने से हम अपने दोषों को नहीं ढँक सकते। हमें सच्चाई—अनावृत सच्चाई—का साहसपूर्वक सामना करना चाहिए। भारतवर्ष को अगर सम्मानपूर्वक जीवित रहना है तो उसे अपने काले धब्बों को धो देना पड़ेगा। चारों ओर भीतर और बाहर के शत्रु हमारी ओर आँख लगाये हुए हैं, दूसरे निश्चिन्त होना चाहें तो हो लें, हम निश्चिन्त नहीं सो सकते—'जा का घर है गैल में, सो कत सोय निचिन्त।'

यहाँ मैं अपनी बात जरा और भी स्पष्ट रूप में ही कहना चाहता हूँ। मैं जितनी दूर तक अपने देश का इतिहास समझ सका हूँ मुझे ऐसा लगा है, कि अनेक बड़े-बड़े आध्यात्मिक साधक, सम्प्रदाय और धार्मिक आन्दोलन महान् आदर्शों को लेकर चले हैं, पर देर तक वे शुद्ध रूप में नहीं रह सके हैं। घर जोड़ने की माया ने सबको अभिभूत कर लिया है। जिन लोगों ने शोषण और परपीड़न का विरोध किया था, उन्हीं के नाम पर स्थापित गद्दियों की ओर से शोषण का कारबार तेजी से चल पड़ा है। व्यक्तियों की बात मैं नहीं कहता। हमारे देश में ऐसे-ऐसे दृढ़ निश्चयी और त्यागी वीर हुए हैं कि जिनके नाम लेने से भी हृदय और मन पवित्र हो जाता है। वे काम, क्रोधादि से विचलित नहीं हुए हैं, यह सत्य है; पर जब उनका संदेश समूह का सेवनीय बना है तभी जड़-भार-संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती गयी है। और देश क्रमशः चरित्र-बल से हीन होता गया है।

इस यंत्र-युग में समूह की शक्ति बढ़ी है। हमें कोई ऐसी व्यवस्था सोचनी पड़ेगी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जरूरत भर अन्न-वस्त्र और शिक्षा मिल जाय और उसे जितने की जरूरत है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उससे अधिक संग्रह करने का अवसर ही नहीं मिले। जब सामूहिक रूप से ऐसी कोई व्यवस्था हो जायगी तभी ये छोटी चीजें बड़ी-बड़ी बातों से मनुष्य का ध्यान हटाकर अपनी ओर खींच नहीं सकेंगी। हमें सामूहिक रूप से ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि मनुष्य को लोभ-मोह की ओर खींचनेवाली शक्तियाँ क्षीणबल हो जायँ।

कहने का मतलब यह है कि इन दिनों केवल व्यक्ति को लोभ-मोह से विरत होने का उपदेश ही काफी नहीं है। लोभ-मोह को आश्रय देनेवाली शक्तियों को ही निःशक्त कर देने की आवश्यकता है। आज जब हम सामूहिक शिक्षा, सामूहिक सुरक्षा आदि की ओर अग्रसर होने को बाध्य हो गये हैं तो हमें सामूहिक रूप से जनता के चरित्रबल को सुरक्षित करने की व्यवस्था भी प्रयत्नपूर्वक करनी होगी।

जब हमारी सम्पूर्ण जनता साहसपूर्वक धर्मानुकूल कार्य करती हुई सौ वर्ष की जीवन पाने की इच्छा करेगी और उसके चरित्रबल को दुर्बल बनानेवाली सामाजिक शक्तियाँ क्षीण हो जायेंगी, तब हमारा नैतिक धरातल ऊँचा होगा। तभी समग्र देश का मंगल होगा और हमारे देशवासी न केवल स्वयं कर्ममय जीवन यापन करेंगे, वे सारे जगत को इस प्रकार के जीवन की ओर उद्‌बुद्ध करेंगे। तभी वैदिक ऋषि की सिखाई हुई यह प्रार्थना फलवती होगी—

ओं तच्चक्षुर्देव हितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्॥
श्रृणुयाम शरदः शतं प्रवबाम शरदः शतमदीनाः
स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दीपावली

दीपावली इस साल भी आ गयी। हर साल ही आती है। न जाने किस भले आदमी के मन में किस शुभ मुहूर्त में दीपकों के उत्सव की बात आयी थी। पंडितों ने इस पर्व का इतिहास खोजने का प्रयत्न किया है। भक्तों का विश्वास कुछ और है, पंडितों के अनुसंधान कुछ और, मगर उत्सव है पुराना। बुद्धदेव के जीवन-काल में यह उत्तर भारत में अवश्य मनाया जाता था और सबूत मिला है कि गुप्तकाल में भी मनाया जाता था। मतलब यह है कि कम-से-कम डाई-तीन हजार वर्षों के मानव-चित्त के उमंग और उल्लास की कहानी इस पर्व के साथ जुड़ी है। इतना क्या कम है? दो सौ पीढ़ियों तक जो पर्व मनुष्य के चित्त को आनन्द से उद्वेलित कर सका है, वह क्या मामूली पर्व है? राज्यों और राजवंशों के उत्थान-पतन होते रहे; बड़े-बड़े धर्म-संप्रदाय उठते-गिरते रहे, चंचला लक्ष्मी का प्रसाद न जाने कितने लोगों को प्राप्त हुआ और कितने उससे वंचित हो गये; पर दीपमाला का उत्सव नहीं रुका। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि यह लक्ष्मी-पूजा का दिन है। बंगाल में दूसरी परम्परा है। वहाँ इस तिथि को कालीजी की पूजा होती है। लक्ष्मी-पूजा वहाँ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आश्विन मास की पूर्णिमा के दिन होती है। उसे कोजागर पूर्णिमा कहते हैं। पर पूजा लक्ष्मी की हो या काली की, दीपमाला सर्वत्र जगमगा उठती है। देवी-देवता और उनकी पूजा गौण है, मनुष्य-चित्त का उल्लास प्रधान; और उत्सव यह उल्लास का ही है।

कैसे यह पर्व इतने दिनों तक जीता रहा ? निश्चय ही इसके दीर्घ इतिहास में ऐसे अवसर आये होंगे, जब शक्तिशाली समझे जानेवाले लोगों को यह उत्सव पसन्द नहीं आया होगा। ऐसे अवसरों पर इस उत्सव को बन्द करा देने की आज्ञाएँ भी निकलती होंगी। शकुन्तला नाटक की गवाही के आधार पर कहा जा सकता है कि शक्तिशाली नरपतियों का जब मन उदास हुआ करता था, तो वे ऐसे परम्परा-प्रचलित उत्सवों को रोक देते थे। राजा दुष्यन्त प्रबल प्रतापी राजा थे। प्रिया-वियोग से उनका मन दुखी हुआ था, तब वसन्तोत्सव मनाया जाना बन्द कर दिया गया था। आतंक ऐसा कि आम-जैसा अनायास खिल उठनेवाला मौजी वृक्ष भी आधी बौंर तक खिलकर रुक गया। किसी को शंका हुई कि शायद कामदेव-जैसे महाप्रतापशाली देवता ने भी चकित होकर अधखिंचे धनुष को समेट लिया हो। मुद्राराक्षस की गवाही पर कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त ने भी कौमुदी महोत्सव रोक दिया था। शक्तिशाली राजाओं की कुंचित भृकुटियों का शिकार कभी-न-कभी इस उत्सव को भी होना पड़ा होगा, पर हुआ नहीं। मनुष्य की सम्मिलित सामाजिक मंगलेच्छा को दबाना क्या संभव है ? दीपावली का उत्सव हर साल यह संदेश दुहरा जाता है—राज्य बदल जायेंगे, राजमुकुट पुराने हो जायेंगे, मठ ढह जायेंगे, सम्प्रदाय नष्ट हो जायेंगे—बची रहेगी मनुष्य की सामूहिक मंगलेच्छा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आज से हजारों वर्ष पहले मनुष्य ने निश्चय किया था कि वह दरिद्रता की अवस्था में नहीं रहेगा, वह सामाजिक रूप में समृद्ध रहेगा। एक व्यक्ति नहीं, एक परिवार नहीं, एक जाति भी नहीं, बल्कि समूचा मानव-समाज समृद्धि चाहता है, अदारिद्रय चाहता हैं, अमंगल का अन्त चाहता है, उल्लास और उमंग चाहता है—दीपावली का उत्सव उसी सामाजिक मंगलेच्छा का दृश्यमान मूर्तरूप है। समूचा समाज आज दरिद्रता के अभिशाप से मुक्ति चाहता है, अभाव के शिकंजे से छूटना चाहता है। दीपावली उसके इस संकल्प की जलती हुई दीपशिखा है। राजवंश आये और गये बड़े-बड़े समृद्धिशाली नगर बने और बिगड़े ; किन्तु मनुष्य की वह चिरप्रार्थित आकांक्षा नहीं पूरी हुई। आज भी वह लक्ष्मी की पूजा कर रहा है, परन्तु परन्तु पूजा करता है दरिद्रता की पीठ पर बैठकर। आज भी वह महाकालिका की पूजा करता है—आतंक और भय से कंपित हृदय लेकर। कब यह पूजा सफल होगी ? कब महामाया का वह प्रसन्न-मुख प्रकट होगा जिसे देखकर मनुष्य अभाव की मार से बच सकेगा ? कब उनका वह रुद्र रूप दिखाई देगा, जिससे वह भय और आतंक को ध्वस्त होते देखेगा ? अभी तक तो ऐसा नहीं हो सका है। महामाया की चिन्मयलीला अभी दुर्भाग्य के विकट अट्टहासों से बाधाग्रस्त है। क्यों ऐसा है ? क्या कभी मनुष्य की सामाजिक मंगलेच्छा पूरी होगी ?

चारों ओर जब अभाव का करुण हाहाकार सुनाई दे रहा है, दीपावली अपना मंगल-संदेश लेकर आयी है। कई हजार वर्ष पहले मनुष्य ने सामूहिक रूप से समृद्ध होने का संकल्प किया था। वह संकल्प आज भी जी रहा है। क्यों न मनुष्य अब इच्छा के बाद प्रयत्न शुरू करे ? सामाजिक मंगलेच्छा को आज तक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कोई नहीं दबा सका, वह न मरी, न बूढ़ी हुई, जब कि न जाने कितनी व्यक्तिगत आकांक्षाएँ मरकर भूत हो गईं, कितने व्यक्तिगत प्रयत्न हमेशा के लिए समाप्त हो गये। दीपावली यह संदेश लेकर आ रही है कि व्यक्ति मनुष्य की इच्छा भी नश्वर है, प्रयत्न भी नश्वर हैं, परन्तु सामाजिक मनुष्य की इच्छा भी अमर है और प्रयत्न भी अमर होगा। अब व्यक्तिगत प्रयत्नों का जमाना लद गया। उसकी पूरी परीक्षा हो चुकी। अब सामाजिक मनुष्य की मंगलेच्छा जियेगी और सामाजिक मनुष्य को सब प्रकार के अभावों और बंधनों से मुक्त करने की साधना ही जियेगी।

व्यक्ति की इच्छा का कंठरोध हो सकता है। सामाजिक इच्छा का कंठरोध नहीं हो सकता। इसी प्रकार व्यक्तिगत सुख-समृद्धि की सब योजनाएँ समाप्त हो जायँगी, जियेगी तो केवल समूचे समाज को अभावों और बंधनों से मुक्त करने की सामूहिक मंगलेच्छा। व्यक्ति की सफलता समाज के मंगल में है। वही मनुष्य सार्थक जन्मा है, उसी का जीवन चरितार्थ कहा जा सकता है जो समूचे समाज को मंगल की ओर ले जाने में अपने-आपको उत्सर्ग कर दे। शरीर के नाना जाति के जीवकण अपने-अपने कर्तव्य में लगे रहते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों पर काम करते रहने पर भी वे संपूर्ण शरीर को स्वस्थ रखते हैं। जब उनके अनुपात में अन्तर आता है, अर्थात् जब कुछ कण अधिक मोटे हो जाते हैं, कुछ दुर्बल पड़ जाते हैं तो सम्पूर्ण शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। हमारा समाज आज रोगग्रस्त है; क्योंकि उसमें भयंकर वैषम्य है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने उचित स्थान पर रहकर अपने को समाज के हित के लिए उत्सर्ग नहीं कर रहा है। यही रोग है। समाज का शरीर रोगार्त बना हुआ है। समस्त कठिनाइयों के मूल में यही वैषम्य है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दीपावली का उत्सव हजारों वर्षों से बतलाता है कि मनुष्य की सामाजिक इच्छा क्या है। अभी तक वह इच्छा फलवती नहीं हुई। दीपावली ऊँचे स्वर से घोषणा कर रही है कि सामूहिक समृद्धि की साधना करो, सामाजिक मंगल की चेष्टा करो।

दीपावली इस साल भी आ गयी, हर साल ही आती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चित्रकला और मूर्तिकला

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्र-सूत्र में कहा गया है कि समस्त कलाओं में चित्रकला श्रेष्ठ है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थों को देनेवाली है। जिस गृह में इस कला का वास रहता है वह परम मांगल्य होता है। प्राचीन काल में प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति के कमरे में चित्रफलक और समुद्गक या रंगों की डिबिया का रहना आवश्यक माना जाता था। अन्तःपुर की वधूएँ अवसर मिलने पर इस विद्या के द्वारा अपना मनोविनोद करती थीं। चित्र नाना आधारों पर बनाये जाते थे—काठ या हाथी-दाँत के चित्र-फलक पर, चिकने शिलापट्ट पर, कपड़े पर और भीत पर। पंचदशी नामक वेदान्त ग्रन्थ से जान पड़ता है कि कपड़े पर बनाये जानेवाले चित्र चार अवस्थाओं से गुजरते थे, धौत, मंडित, लांछित और रंजित। कपड़े का धोया हुआ रूप धौत है, उसपर चावल आदि के माँड से घोंटाई मंडित है, फिर काजल आदि की सहायता से रेखांकन लांछित है और उसमें रङ्ग भरना रञ्जित अवस्था है। सम्भ्रान्त परिवार में अन्तःपुर की देवियों में चित्र-विद्या का बहुत अधिक प्रचार था। रईसों के घरों में चित्रकर्म के लिए जो पटोलिका या पिटारी रहती थी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उसमें अलक्तक, मनःशिला,हरिताल, हिंगुल और श्यामवर्णक (राजा-वर्त का चूर्ण ?) रहा करते थे। इन पदार्थों से शुद्ध और मिश्र रंग बनाये जाते थे। संस्कृत-नाटकों में शायद ही कोई ऐसा हो जिसमें प्रेमी या प्रेमिका ने प्रिय का चित्र बनाकर अपनी विरह-वेदना न हल्की की हो। कालिदास के ग्रन्थों से जान पड़ता है कि विवाह के समय देवताओं के चित्र बनाकर पूजे जाते थे, वधूओं के दुकूल-पट्ट के आँचल में हंसों के जोड़े आँक दिये जाते थे, और चित्र देखकर वर-वधू के विवाह सम्बन्ध ठीक किये जाते थे।

चार प्रकार के चित्रों का उल्लेख पुराने ग्रन्थों में आता है। विद्ध अर्थात् जो वास्तविक वस्तु से इस प्रकार मिलता हो जैसे दर्पण में की छाया, अविद्ध या काल्पनिक (अर्थात् चित्रकार के भावोल्लास की उमंग में बनाये हुए चित्र), रस-चित्र और धूलि-चित्र। सभी चित्रों में विद्धता की प्रशंसा होती थी। विष्णुधर्मोत्तर उस उस्ताद को ही चित्रविद् कहने को राजी है जो सोये आदमी में चेतना दिखा सके, मरे में उसका अभाव चित्रित कर सके, निम्नोन्नत विभाग को ठीक-ठीक अंकित कर सके, तरंग की चञ्चलता, अग्निशिखा की कम्प्रगति, धूम का तरंगित होना, और पताका का लहराना दिखा सके। वस्तुतः उन दिनों चित्र-विद्या अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच चुकी थी।

पुरानी पुस्तकों में चित्र-विषयक चमत्कार की अनेक अनुश्रुतियाँ पायी जाती हैं। कहते हैं कि काश्मीर के अनन्त वर्मा के प्रासाद पर जो आम के फल अंकित थे उनमें कौए ठोकर मार जाया करते थे। उन्हें उनके वास्तविक होने का भ्रम होता था। शकुन्तला नाटक में राजा दुष्यन्त अपने ही बनाये हुए चित्र की विद्धता से स्वयमेव मुह्यमान हो गये थे। यद्यपि नाटककार का अभिप्राय राजा के प्रेम का आतिशय्य दिखाना ही है, परन्तु कई

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बातें उसमें ऐसी हैं जो चित्रसन्बन्धी उस युग के आदर्श को व्यक्त करती हैं । इस आदर्श का मूल्य इसलिए और भी बढ़ गया है कि वह कालिदास-जैसे श्रेष्ठ कवि की लेखनी से निकला है। भारत-वर्ष का जो कुछ सुन्दर है, भव्य है, सुरुचिपूर्ण और कोमल है उसके श्रेष्ठ प्रतिनिधि कालिदास हैं। सो, शकुन्तला के भाव-मनोरम चित्र को बनाने के बाद राजा दुष्यन्त को लगा कि शकुन्तला अधूरी ही है। थोड़ा सोचकर राजा ने अपनी गलती महसूस की। जिस शकुन्तला को हम हिमालय के उस पवित्र आश्रम में नहीं देखते जिसमें मृगगण बैठे हुए हैं, स्रोतोवहा मालिनी सिक्त कर रही है, उसके सैकत (बालू) पुलिन में हंसमिथुन लीन हैं। आश्रम-तरुओं में तपस्वियों के वल्कल टँगे हैं, कृष्णसार मृग के सींगों में मृगी अपने वामनयनों को खुजलाती हुई रसाविष्ट है, वह शकुन्तला अपूर्ण है। मनुष्य अपने सम्पूर्ण वातावरण के साथ ही पूर्ण हो सकता है और जीवन में जो बात सत्य है वही चित्र में भी सत्य है। राजा ने इस सत्य को अनुभव किया, उसने शकुन्तला को उसकी सम्पूर्ण परिवेष्टनी में अंकित करने की इच्छा प्रकट की—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥

(शकुन्तला, षष्ठ अंक)

केवल भावमनोहर शकुन्तला राजा दुष्यन्त का व्यक्तिगत सत्य है ; वस्तुतः वह उससे बड़ी है। वह विश्वप्रकृति के सौ-सौ हजार विकसित पुष्पों में से एक है; वह सारे आश्रम को पवित्र और मोहन बनानेवाले उपादानों में एक है और इसीलिए इन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सबके साथ अविच्छिन्न भाव से संश्लिष्ट है। उस एक तार पर आघात करने से सब अपने आप झंकृत हो जाते हैं। वही शकुन्तला अपना अन्त आप नहीं, बल्कि यह जो कुछ दिख रहा है सत्ता के भीतर निहित एक अखण्ड अविच्छेद 'एक' की ओर संकेत करती है। यही चित्र का प्रधान लक्ष्य है। जो कला अपने आपको ही अन्तिम लक्ष्य सिद्ध करती है वह माया का कंचुक है, बंधन है और जो उस 'एक' परम तत्त्व की ओर मनुष्य को उन्मुख करती है वह मुक्ति का साधन है। राजा का बनाया हुआ चित्र अन्त में जाकर इतना सफल हुआ कि वह खुद ही अपने को भूल गया। वह चित्रस्थ भ्रमर को उपालम्भ करने लगा।

प्राचीन साहित्य में ऐसे विद्ध या हू-ब-हू ठीक दिखनेवाले चित्रों की बात बहुत प्रकार से आयी है। रत्नावली में सागरिका ने राजा उदयन का चित्र बनाया था और उसकी सखी सुसंगता ने उस चित्र के बगल में सागरिका का चित्र बना दिया था। सागरिका की आँखों में प्रणय-दुराशा के जो अश्रु थे वे इतने मोहक बने थे कि राजा ने जब उस चित्र को देखा तो उसके समस्त अंगों से बिछला-बिछलाकर उसकी दृष्टि बार-बार उसकी आँखों पर ही आ टिकती थी!

संस्कृत साहित्य में शायद ही दो-तीन नाटक ऐसे मिलें जिनमें विद्ध चित्रों के चमत्कार का वर्णन न हो। चित्र उन दिनों विरही के विनोद थे, प्रौढ़ों के प्रीति-उद्रेचक थे, गृहों के श्रृंगार थे, मन्दिरों के मांगल्य थे। संन्यासियों के साधना-विषय थे, और राहगीरों के सहारे थे। प्राचीन भारत चित्रकलामर्मज्ञ साधक था।

२

हमने उपर देखा है कि समस्त कलाओं में चित्रकला श्रेष्ठ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देनेवाली है। जिस गृह में यह कला रहती है वह गृह मांगल्य होता है। एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह कही गयी है कि नृत्य और चित्र का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। मार्कण्डेय मुनि ने कहा था कि नृत्य और चित्र दोनों में ही त्रैलोक्य की अनुकृति होती है। महानृत्य में दृष्टि, हाव, भाव आदि की जो भंगी बतायी गयी है वह चित्र में भी प्रयोज्य है, क्योंकि वस्तुतः नृत्य ही परम चित्र है—नृत्यं चित्रं परं स्मृतम्।

ग्यारहवीं शती के प्रसिद्ध ग्रंथ अभिलषितार्थ चिन्तामणि में चित्र में सोने के उपयोग की भी विधि दी हुई है। शास्त्रीय ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि उन दिनों चित्र के विषय अनेक थे; केवल शृंगार-चेष्टा या धर्माख्यान तक ही उनकी सीमा नहीं थी। धार्मिक और ऐतिहासिक आख्यानों के लम्बे-लम्बे पट उन दिनों बहुत प्रचलित थे। कामसूत्र में ऐसे आख्यानक-पटों का उल्लेख है और मुद्राराक्षस नाटक में यमपटों की कहानी है। देवता, असुर, राक्षस, नाग, यक्ष, किन्नर, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी सब कुछ चित्र के विषय थे। इनकी लम्बाई, चौड़ाई आदि के विषय में शास्त्र-ग्रन्थों में विशेष रूप से लिखा हुआ है।

स्थायी नाट्य-शालाओं की दीवारें चित्रों से अवश्य भूषित होती थीं। चित्र और नाट्य को परस्पर का मंगलजनक माना जाता था। भित्ति को सजाने के लिए पुरुष, स्त्री और लताबन्ध के चित्र होना आवश्यक माना जाता था। लताबन्ध में कमल और हंस अवश्य अंकित होते थे; क्योंकि कमल को और हंस को गृह की समृद्धि का हेतु समझा जाता था। भारतीय नाटकों का एक प्रधान कथा-वस्तु का उपादान चित्र-कर्म था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

काव्य-नाटकादि में चित्र का जो प्रसंग आता है, उनमें सर्वत्र विद्ध चित्र की ही प्रशंसा मिलती है ; अर्थात् जो चित्र देखने में ठीक हू-ब-हू मूल वस्तु से मिल जाता था वही प्रशंसनीय समझा जाता था। कालिदास की शकुन्तला में एक विवादास्पद अर्थवाला श्लोक आता है, जिसमें शायद चित्र की अपूर्णता की ओर इशारा किया गया है। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था, जिसमें शकुन्तला के दोनों नेत्र कान तक फैले हुए थे, भ्रू-लता लीला द्वारा कुञ्चित थी, अधर-देश उज्ज्वल दसनछवि की ज्योत्स्ना से समुद्भासित थे, ओष्ठ-प्रदेश पके कर्कन्धू के समान पाटल वर्ण के थे, विभ्रम-विलास की मनोहारिणी छवि की एक तरल धारा-सी जगमगा उठी थी, चित्रगत होने पर भी मुख में ऐसी सजीवता थी कि जान पड़ता था कि अब बोला, अब बोला—

दीर्घापांगविसारिनेत्रयुगलं लीलांचितभ्रूलतं
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम्
कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखम्
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम् ॥

मिश्रकेशी नामक शकुन्तला की सखी ने इस चित्र को देखकर आश्चर्य के साथ अनुभव किया था कि मानो उसकी सखी सामने ही खड़ी है। पर राजा को सन्तोष नहीं था। इतना भावपूर्ण सजीव चित्र भी कुछ कमी लिये हुए था। राजा ने कहा कि चित्र में जो-जो साधु अर्थात् ठीक नहीं होता, उसे दूसरे ढंग से (अन्यथा) किया जाता है, तथापि उसका लावण्य रेखा से कुछ अन्वित हुआ है—

यद् यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम् ॥

इन वाक्यों का अर्थ पंडितों ने कई प्रकार से किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शायद राजा का भाव यही है कि हजार यत्न किया जाय, मूल वस्तु का भाव चित्र में नहीं आ पाता ; या फिर यह हो कि कल्पित मूल्यों की योजना का कला में प्राधान्य होने के कारण काँच की भाँति चित्र में भी मूल वस्तु को कुछ दूसरे ही रूप में सजाया जाता है जिसमें अभिरामता बढ़ जाती है। दूसरे अर्थ का समर्थन मालविकाग्निमित्र के इस श्लोक से होता है जिसके अनुसार वास्तविक मालविका को देखकर राजा ने कहा था कि चित्र में इसके रूप को देखकर मुझे आशंका हुई थी कि शायद वास्तव में यह उतनी सुन्दर ही होगी जैसा कि चित्र में दिख रही है; पर इसे प्रत्यक्ष देखकर लग रहा है कि चित्रकार की समाधि ही शिथिल हो गयी थी—उसने चंचल चित्त से चित्र बनाया था !—

चित्रगतायामस्या कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम् ।
संप्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥

इतना तो स्पष्ट ही है, चित्रकार का ध्यान शिथिल न हो गया होता तो और भी सुन्दर बनाता। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालिदास ने चित्र में जो-जो गुण बताये हैं, वे निश्चित रूप से उत्तम कला के सबूत हैं। यह जो बोलता-बोलता भाव है, या फिर ऊँचे स्थानों का ऊँचा दिखाना, निम्न स्थानों का निम्न दिखना, शरीर में इस प्रकार रंग और रेखा का विन्यास करना कि मृदुलता और सुकुमारता निखर आये ; मुख पर ऐसा भाव चित्रित करना कि प्रेमदृष्टि और मुसुकान-भरी वाणी प्रत्यक्ष हो उठे।

यह निस्सन्देह बहुत ही उत्तम कला का निर्दर्शन है। किन्तु विष्णु-धर्मोत्तर के चित्रसूत्र के आचार्य को इतना ही काफी नहीं जान पड़ता है। वे और भी सूक्ष्मता चाहते हैं, और भी कौशल होने पर दाद देना स्वीकार करते हैं। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जो चित्रकार सोये हुए आदमी में चेतना दिखा सके, या मरे हुए में चेतना का अभाव दिखा सके, निम्नोन्नत विभाग को यथावत् दिखा सके, तरंग की चंचलता, अग्निशिखा की कम्प्रगति, धूम का तरंगित होना, और पताका का लहराना स्पष्ट दिखा सके, असल में उसे ही आचार्य चित्रविद् कहना चाहते हैं—

तरंगाग्निशिखाधूमवैजयन्त्यम्बरादिकम् ।
वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेयः स तु चित्रविद् ॥
सुप्तं च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्यवर्जितम् ।
निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रविद् ॥

ऐसा जान पड़ता है कि विद्ध चित्रों के चित्रण में उन दिनों पूरी सफलता मिली थी। राजा और रानियों की पुरुषप्रमाण प्रतिकृति उन दिनों नियमित रूप से राजघरानों में सुरक्षित रहती थी। हर्षचरित से जान पड़ता है कि श्राद्ध के बाद पहला कार्य होता था मृत व्यक्ति का आलेख्य बनाना। यद्यपि अन्तःपुर और समृद्ध नागरिकों के बहिर्निवास में ही कला का अधिक उल्लेख मिलता है, तथापि साधारण जनता में भी इस कला का प्रचार रहा होगा। संस्कृत नाटकों और नाटिकाओं में परिचारिकाओं को प्रायः चित्र बनाते अंकित किया गया है। प्राचीन ग्रंथों से इस बात का सबूत भी मिल जाता है कि उन दिनों स्वयं लोग अपना चित्र भी बनाते थे। भारतवर्ष ने उस काल में इस विद्या में जो चरम उत्कर्ष प्राप्त किया था, उसका ज्वलन्त प्रमाण अजन्ता और वेलूर (एलोरा) आदि की गुफाएँ हैं।

३

चित्रकला के समान ही भारतवर्ष मन्दिर और मूर्ति-निर्माण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की कला में भी बहुत समृद्ध रहा है। संसार के बहुत कम देश इस विषय में हमारी बराबरी कर सकते हैं।

भारतीय तक्षण-शिल्प के चार प्रधान अंग हैं—गुफा, मंदिर, स्तम्भ और प्रतिमा। प्रथम दो का सम्बन्ध नाटकीय अभिनयों के साथ भी पाया गया है। इस देश में पहाड़ों को काटकर गुफा-निर्माण की प्रथा बहुत पुरानी है। गुफाएँ दो जाति की हैं—चैत्य और विहार। चैत्य के भीतर एक स्तूप होता है और जन-समाज के सम्मिलित होने के लिए लम्बा-चौड़ा हॉल बनाया जाता है। इस प्रकार की गुफाओं में कार्ली की गुफा श्रेष्ठ है। विहार बौद्ध-भिक्षुओं के मठ को कहते हैं। दक्षिण भारत में अजन्ता, एलोरा, कार्ली, भाजा, भिलसा आदि के विहार संसार के शिल्प-प्रेमियों की प्रचुर प्रशंसा प्राप्त कर सके हैं। हमने पहिले ही लक्ष्य किया है कि एक गुफा में एक प्रेक्षागृह या रंगशाला का भग्ना-वशेष पाया जा सका है। मन्दिरों से सम्बद्ध रंगशालाएँ भी पायी गयी हैं। जिस देवता का मन्दिर हुआ करता था उसकी लीलाओं का अभिनय हुआ करता था और भक्त लोग उन्हें देखकर भगवच्चिन्तन में समय बिताया करते थे। उत्तर-भारत में ब्राह्मण और जैन-मन्दिर ही अधिक हैं। ब्राह्मण-मन्दिर में 'गर्भगृह' में मूर्ति स्थापित होती है और आगे मंडप बनाया जाता है। जैन-मन्दिरों में कभी-कभी दो मंडप होते हैं और एक वेदी भी। इन मन्दिरों के 'गर्भगृह' पर शिखर होता है। शिखर के ऊपर सबसे ऊँचे एक प्रकार का बड़ा चक्र होता है जिसे 'आमलक' कहते हैं। इसी आमलक के ऊपर कलश होता है और उसके ऊपर ध्वज-दण्ड। द्रविड़ शैली के मन्दिरों में गर्भगृह के ऊपर कई मंजिलों का चौकोर मण्डप होता है, जिसे विमान कहा जाता है। यह ज्यों-ज्यों ऊँचा होता जाता है, त्यों-त्यों उसका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

फैलाव कम होता जाता है। जहाँ उत्तर-भारत में शिखर होता है, वहीं दक्षिण भारतीय शैली में विमान होता है। गर्भगृह के आगे बड़े-बड़े स्तम्भोंवाला विस्तृत स्थान (मण्डप) होता है और मन्दिर के प्राकार के द्वारों पर अनेक देवी-देवताओं की मूर्तिवाला ऊँचा गोपुर होता है। दक्षिण के चिदावरम् आदि मन्दिरों पर नाट्य-शास्त्र के बताये हुए विविध अंगहार चित्रित हुए हैं। कोणार्क भुवनेश्वर के मन्दिरों में भी नाना प्रकार के शास्त्रीय आसन उत्कीर्ण हैं। इन मन्दिरों पर उत्कीर्ण इन चित्रों से बहुत-सी लुप्त अभिनय-भंगियों के समझने में सहायता मिलती है। इसी प्रकार गुफाओं में अंकित चित्रों ने नाना दृष्टि से भारतीय समाज को समझाने में सहायता पहुँचायी है। उनकी कला तो असाधारण है ही। एक प्रसिद्ध अँग्रेज शिल्प-शास्त्री ने आश्चर्य के साथ लक्ष्य किया था कि गुफाओं के काटने में कहीं भी एक भी छेनी व्यर्थ नहीं चलायी गयी है। भारतीय वास्तुकला की दृष्टि से इन गुफाओं और मन्दिरों की प्रशंसा संसार के सभी शिल्प-विशारदों ने की है। अद्भूत धैर्य, विशाल मनोबल और आश्चर्यजनक हस्तकौशल का ऐसा सामंजस्य संसार में बहुत कम मिलता है। आलोचकों ने इस सफलता का प्रधान कारण कलाकारों की भक्ति को ही बताया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सौंदर्य-सृष्टि में प्रकृति की सहायता

भारतवर्ष का नक्षत्र-तारा-खचित नील आकाश नद-नदी पर्वतों से शोभायमान विशाल मैदान और तृण-शाद्वलों से परिवेष्टित हरित वनभूमि ने इस देश को उत्सवों का देश बना दिया है। पुराने ग्रंथों से स्पष्ट पता चलता है कि वसन्तागम के साथ ही साथ किस प्रकार भारतीय चित्त आह्लाद और उल्लास से नाच उठता था। मदनपूजा, कुसुम-चयन, हिन्दोल-लीला, उदकक्ष्वेडिका आदि उल्लासपूर्ण विनोदों से समग्र जनचित्त आन्दोलित हो उठता था। राज-अन्तःपुर से लेकर गरीब किसान की झोपड़ी तक नृत्य-गीत की मादकता बह जाती थी और जनचित्त के इस उल्लास को प्रकृति अपने असीम ऐश्वर्य से सौगुना बढ़ा देती थी। और भला जब दिगन्त सहकार (आम) मंजरी के केसर से मूर्च्छमान हो और मधुपान से मत्त होकर भौंरे गली-गली घूम रहे हों तो ऐसे भरे वसन्त में किसका चित्त किसी अज्ञात उत्कंठा से कातर नहीं हो जायगा ?—

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्छितदिगन्ते ।
मधुरवधुविधुरमधुपे मधौ भवत् कस्य नोत्कंठा ।—

वसन्त फूलों का ऋतु है। लाल-लाल पलाश, गुलाबी कञ्चनार, सुवर्णाभ आरग्वध, मुक्ताफल के समान सिदुन्वार, कोमल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शिरीष और दूध के समान श्वेतमल्लिका आदि पुष्पों से वनभूमि चित्र की भाँति मनोहर हो उठती है ; पुष्पपल्लवों के भार से वृक्ष लद जाते हैं; कुसुम-स्तवकों से फूली हुई मंजुल लताएँ मलयानिल के झोंकों से लहराने लगती हैं ; मदमत्त कोकिल और भ्रमर अकारण औत्सुक्य से लोकमानस को हिल्लोलित कर देते हैं ; ऐसे समय में उत्कंठा न होना ही अस्वाभाविक है। वनभूमि तक जब नृत्य और वाद्य से मदिर हो उठी, तब मनुष्य तो मनुष्य ही है। कौन है जो मल्लिका का रस पीकर मतवाली बनी हुई भ्रमरियों के कलगान को और दक्षिणी पवन-रूपी उस्तादजी से शिक्षा पायी हुई वंजुल (बेत) लता की मंजरियों का नर्तन देखकर उत्सुक न हो उठे ? पुराना भारतवासी जीवन्त था, वह इस मनोहारी शोभा को देखकर मुग्ध हो उठता था—

इह मधुपवधूनां पीतमल्लीमधूनां
विलसति कमनीयः काकलीसंप्रदायः।
इह नटति सलीलं मञ्जरी वञ्जलस्य
प्रदिपदमुपदिष्टा दक्षिणेनानिलेन ॥

सो, वसन्त के समागम के साथ ही साथ प्राचीन भारत का चित्त जाग उठता था, वह नाचगान, खेल-तमाशे में मत्त हो उठता था।

वसन्त के बाद ग्रीष्म। पश्चिमी रेगिस्तानी हवा आग बरसाती हुई त्रिलोक की समूची आर्द्रता को सोख लेती; दावाग्नि की भाँति नील वनराजि को भस्मसात् कर देती, विकराल बवण्डरों से उड़ाई हुई तृण, धूल आदि से आसमान भर जाता और बड़े-बड़े तालाबों में भी पानी सूख जाने से मछलियाँ लोटने लगतीं—सारा वातावरण भयंकर अग्निज्वाला से धधक उठता—फिर भी उस युग का नागरिक इस विकट काल में भी अपने आनंद का साधन संग्रह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कर लेता था। कवियों ने सन्तोष के साथ नागरिक के इस आनंद और विलास का औचित्य बताया है। भला यदि ग्रीष्म न होता तो ये सफ़ेद महीन वस्त्र, सुगन्धितम कर्पूर का चूर्ण, चन्दन का लेप, पाटल पुष्पों से सुसज्जित धारागृह (फव्वारेवाले घर), चमेली की माला, चन्द्रमा की किरणें क्या विधाता की सृष्टि की व्यर्थ चीजें न हो जातीं?—

अत्यच्छं सितमंशुकं शुचि मधु स्वामोदमच्छं रजः
कार्पूरं विधृतार्द्रचन्दनकुचद्वंद्वाः कुरंगीदृशः।
धारावेश्म सपाटलं विचकिलस्रग्दाम चन्द्रत्विषा
धातः सृष्टिरियं वृथैव तव नो ग्रीष्मोऽभविष्यद्यदि ॥

इस ग्रीष्मकाल का सर्वोत्तम विनोद जलक्रीड़ा था जिसका काव्यों में अत्यधिक वर्णन पाया जाता है। जलाशयों में कान में धारण किये हुए शिरीषपुष्प छा जाते थे, पानी, चन्दन और कस्तूरिका के आमोद से तथा नाना रंग के अंगरागों से और शृङ्गार-साधानों से रंगीन हो जाता था, जल-स्फालन से उठे हुए जल-बिन्दुओं से आकाश में मोतियों की लड़ी बिछ जाती थी, जलाशय के भीतर से गूँजते हुए मृदंग घोष को मेघ की आवाज समझकर बेचारे मयूर उत्सुक हो उठते थे, केशों से खिसके हुए अशोक-पल्लवों से कमल-दल चित्रित हो उठते थे और आनन्द कल्लोल से दिङ्मण्डल मुखरित हो उठता था। प्राचीन चित्रों में भी यह जलकेलि मनोरम भाव से अंकित है। इस प्रकार प्रकृति के तीव्र ताप की पृष्ठभूमि में मनुष्यचित्त का अपना शीतल विनोद विजयी बनकर निकलता था। वसन्त में प्रकृति मानवचित्त के अनुकूल होती है और इसलिए वहाँ आनुकूल्य ही विनोद का हेतु है; पर ग्रीष्म के विनोद के मूल में है विरोध। प्रकृति और मनुष्य की विरुद्ध मनोदशाओं से यह विनोद अधिक उज्ज्वल हो उठता था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ग्रीष्म बीतते ही वर्षा। आसमान मेघों से, पृथ्वी नवीन जल की धारा से, दिशाएँ बिजली की चंचल लताओं से, वायुमण्डल वारिधारा से, बनभूमि कुटज-पुष्पों से और नदियाँ बाढ़ से भर गयीं—

मेघैर्व्योम नवांबुभिर्वसुमती विद्युल्लताभिर्दिशो।
धाराभिर्गगनं वनानि कुटजैः पूरैर्वृता निम्नगाः।

मालती और कदम्ब, नीलोत्पल और कुमुद, मयूर और चातक, मेघ और विद्युत् वर्षाकाल को अभिराम सौन्दर्य से भर देते हैं। प्राचीन भारतवर्ष का उपभोग नाना भाव से करता था। सबसे सुन्दर और मोहक विनोद झूला झूलना था, जो आज भी किसी न किसी रूप में बचा हुआ है। मेघ-निःस्वन और धारा की रिमझिम के साथ झूले की अद्भुत तुक मिलती है। जिस जाति ने इस विनोद का इस ऋतु के साथ सामंजस्य ढूँढ़ निकाला है उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। वर्षाकाल कितने आनन्द और औत्सुक्य का काल है, उसे भारतीय साहित्य के विद्यार्थी मात्र जानते हैं। मेघदूत का अमर संगीत इसी काल में सम्भव था। कोई आश्चर्य नहीं यदि केका (मोर की वाणी) की आवाज से, मेघों के गर्जन से, मालती-लता के पुष्प-विकास से, कदम्ब की भीनी-भीनी सुगन्ध से और चातक की रट से मनुष्य का चित्त उत्क्षिप्त हो जाय—वह किसी अहैतुक औत्सुक्य से चंचल हो उठे। वर्षा का काल ऐसा ही है। यह वह काल है जब हंस आदि जलचर पक्षी भी अज्ञात औत्सुक्य से चंचल होकर मानसरोवर की ओर दौड़ पड़ते हैं। राजहंस के विषय में काव्य-ग्रन्थों में कहा गया है कि वर्षाकाल में वह उड़कर मानसरोवर की ओर जाने लगता है। बल्कि यह कवि-प्रसिद्धि हो गयी है कि वर्षाऋतु का वर्णन करते समय यह जरूर कहा जाय कि ये उड़कर मानसरोवर की ओर जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कालिदास के यक्ष ने अपने सन्देशवाही मेघ को आश्वस्त कराते हुए कहा था कि "हे मेघ, तुम्हारे श्रवण-सुभग मनोहर गर्जन को सुनकर मानसरोवर के लिए उत्कंठित होकर राजहंस मुँह में मृणाल-तन्तु का पाथेय लेकर उड़ पड़ेंगे और कैलास पर्वत तक तुम्हारा साथ देंगे।"

काव्य-ग्रन्थों में यह वर्णन भी मिलता है कि राजाओं और रईसों की भवनदीर्घिका (घर का भीतरी तालाब) और क्रीड़ा-सरोवरों में सदा पालतू हंस रहा करते थे। कादम्बरी में कहा गया है कि जब राजा शूद्रक सभा-भवन से उठे तो उनको लेकर चलने-वाली सुन्दरियों के नूपुर-रव से आकृष्ट होकर भवनदीर्घिका के कलहंस सभागृह की सोपान-श्रेणियों को धवलित करके कोलाहल करने लगे थे और स्वभावतः ही ऊँची आवाजवाले गृह-सारस मेखला-ध्वनि से उत्कण्ठित होकर इस प्रकार क्रेंकार करने लगे मानो कांसे के बर्तन पर रगड़ पड़ने से कर्णकटु आवाज निकल रही हो। कालिदास ने गृह-दीर्घिकाओं के जिन उदक-लोल विहं-गमों का वर्णन किया है, वे मल्लिनाथ के मत से हंस ही थे।

वर्षा बीती और, लो, नववधू की भाँति शरद ऋतु आ गयी। प्रसन्न है उसका चन्द्रमुख, निर्मल है उसका अम्बर, उत्फुल्ल हैं उसके कमल-नयन, लक्ष्मी की भाँति विभूषित है वह लीला-कमल से तथा उपशोभित है हंस-रूपी बाल-व्यजन (नन्हें-से पंखे) से। आज जगत का अशेष तारुण्य प्रसन्न है।

अद्य प्रसन्नेन्दुमुखी सिताम्बरा
समाययावुत्पलपत्रनेता।
सपंकजा श्रीरिव गां निषेवितुं
सहंस-बाल-व्यजना शरद्वधूः ॥—महामनुष्य

शरद्वधू आयी और साथ में लेती आयी कादम्ब और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कारण्डव को, चक्रवाक और सारस को, क्रौंच और कलहंस को। आदि-कवि वाल्मीकि ने लक्ष्य किया था कि शरदागमन के साथ-ही-साथ पद्म-धूलि-धूसर सुन्दर और विशाल पक्षवाले कामुक चक्रवाकों के साथ कलहंसों के झुण्ड महानदियों के पुलनों पर खेलने लगे थे। प्रसन्नतोया नदियों के सारस-निनादित स्रोत में, जिनमें कीचड़ तो नहीं था, पर बालू का अभाव भी नहीं था—हंसों का झुण्ड झम्प देने लगा था। एक हंस कुमुद-पुष्पों से घिरा हुआ सो रहा था और प्रशान्त निर्मल ह्रद में वह ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो मेघ-मुक्त आकाश में तारागणों से वेष्टित पूर्णचन्द्र हो। संस्कृत के कवि ने शरद् ऋतु में होनेवाले अद्भुत परिवर्तन को अपनी और भी अद्भुत भंगी से इस प्रकार लक्ष्य किया था कि आकाश अपनी स्वच्छता से निर्मल नीर-सा बना हुआ है, कान्ता अपनी कमनीय गति से हंस-सी बनी जा रही है और हंस अपनी शुक्लता से चन्द्रमा-सा बना जा रहा है। सब कुछ विचित्र, सब-कुछ नवीन, सब-कुछ स्फूर्त्तिदायक।

शरद् ऋतु उत्सवों का ऋतु है। कौमुदी-महोत्सव, रात्रि-जागरण, विनोद और सुख-रात्रियों के लिए इतना उत्तम समय कहाँ मिलेगा? शरद् ऋतु के बाद शीतकाल आता था; परन्तु यह शीत इस देश में इतना कठोर नहीं होता कि कोई उत्सव मनाया ही न जा सके। हेमन्त काल की कन्दुक-क्रीड़ा का काल था। यह कन्दुक-क्रीड़ा प्राचीन भारत का अत्यन्त सरस विनोद था और अवसर पाते ही कवियों ने दिल खोलकर इसका वर्णन किया है।

सो, भारतवर्ष की प्रकृति अनुकूल होकर भी और प्रतिकूल होकर भी सरस विनोद की सहायता करती थी। उस दिन इस देश का चित्त जागरूक था, आज वह वैसा नहीं है। हम उस कल्पलोक को आश्चर्य और संभ्रम के साथ देखते रह जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

२

समूचे प्राचीन भारतीय साहित्य में जो बात विदेशी पाठकों को सबसे अधिक आश्चर्य में डाल देती है, वह यह है कि इस साहित्य में कहीं भी असन्तोष या विद्रोह का भाव नहीं है। पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्तों के स्वीकार कर लेने के कारण पुराना भारतीय इस जगत् को एक उचित और सामंजस्यपूर्ण विधान ही मानता आया है। यदि दुःख है तो इसमें असन्तुष्ट होने का कोई हेतु नहीं; क्योंकि मनुष्य इस जगत् में अपने किये का फल भोगने को आया ही है। इस असन्तोष के अभाव ने सामाजिक वातावरण को आनन्द, उल्लास और उत्सव के अनुकूल बना दिया है। यही कारण है कि भारतीय चित्त इन उत्सवों का केवल थके हुए दिमाग का विश्राम नहीं समझता; वह इसे मांगल्य मानता है। नाच, गान, नाटक केवल मनोविनोद नहीं हैं; परम मांगल्य के जनक है। उनको विधिपूर्वक करने से गृहस्थ के अनेक पुराकृत कर्म से उत्पन्न विघ्न नष्ट होते हैं, पाप क्षय होता है और सुललित फलोंवाला कल्याण होता है—

मांगल्यं ललितैश्चैव ब्रह्मणो वद्नोद्भवम्
सुपुण्यं च पवित्रं च शुभं पापविनाशनम्।

(नाट्यशास्त्र)

क्योंकि देवता गन्धमाल्य से उतना प्रसन्न नहीं होते, जितना नाट्य और नृत्य से होते हैं। जो इस नाट्य को सावधानी के साथ सुनता है या जो प्रयोग करता है या जो देखता है वह उस गति को प्राप्त होता है, जो वेद के विद्वानों को मिलती है; जो यज्ञ करनेवाले को मिलती और जो गति दानशीलों को प्राप्त होती

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

है ; क्योंकि जैसा कि कालिदास-जैसे क्रान्तदर्शी कह गये हैं, मुनि लोगों ने इसे देवताओं का अत्यन्त कमनीय चाक्षुय यज्ञ बताया है।—

देवानामिममामनन्ति मुनयः
कान्तं क्रतुं चाक्षुषम्।

शायद ही संसार की किसी और जाति ने नृत्य और नाट्य को इतनी बड़ी चीज समझा हो। यही कारण है कि प्राचीन भारत नृत्य और नाट्य को केवल सामयिक विनोद नहीं समझता था, वह इससे कहीं बड़ी चीज है।

गृहस्थ के अपने घर में भी नृत्य-गान का मान था। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि अन्तःपुर की वधूएँ नाटकों का अभिनय करती थीं। यहाँ नाट्य और नाट्य के प्रयोक्ता दोनों ही पवित्र और मोहनीय होते थे। यहीं वस्तुतः भारतीय कला अपने पवित्रतम रूप में पालित होती थी। गृहस्थ का मर्म-स्थान उसका अन्तःपुर है और वह अन्तःपुर जिन दिनों स्वस्थ था, उन दिनों वहाँ सुकुमार कला की स्रोतस्विनी बहती रहती थी। अन्तःपुर की देवियों का उच्छृंखल उत्सवों और यात्राओं में जाना निश्चय ही अच्छा नहीं समझा जा सकता था। परन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि स्त्रियाँ हर प्रकार के नाट्य-रंग से दूर रखी जाती थीं। एक प्रकार का हुजूम हर युग में और हर देश में ऐसा होता है जिसमें किसी भले घर की बहू-बेटी का जाना अशोभन होता है। प्राचीन भारत के अन्तःपुरी में नाट्य-नृत्य का जो बहुत प्रचार था उसके प्रमाण बहुत पाये जा सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कला का प्रयोजन

आजकल यह चर्चा बहुत होती है कि कला का कोई उद्देश्य है या वह अपना लक्ष्य आप ही है। प्रायः पूछा जाता है कि कला कला के लिए होनी चाहिए या जीवन के लिए। यह कुछ विचित्र प्रश्न है। कला शब्द का प्रयोग हमारे देश में कई हजार वर्षों से हो रहा है। उसका अर्थ निश्चित हो गया है, उसका प्रयोजन भी निर्धारित हो चुका है। नये सिरे से जब कोई इसके प्रयोजन के बारे में प्रश्न करता है तो कुछ विचित्र-सा लगता है। बहुत पुराने जमाने से कलाओं के साथ चौंसठ की संख्या का सम्बन्ध दिखाई पड़ता है; वैसे चौरासी और बहत्तर कलाओं की भी चर्चा आ जाया करती है। पुरानी पोथियों में इन कलाओं की कई सूचियाँ दी हुई हैं। कभी-कभी स्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि ये पुरुषोचित कलाएँ हैं, ये स्त्रियों की कलाएँ हैं, या अन्य किसी साधारण व्यक्ति के लिए कलाएँ हैं। पर साधारणतः कलाओं को ६४ भागों में विभक्त करके उन्हें 'कला' का सामान्य नाम देने की ही प्रथा अधिक है। वात्स्यायन ने जिन चौसठ कलाओं को गिनाया है उनका विश्लेषण करके देखा जाय तो उनमें लगभग एक तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक, बाकी में कुछ विलास-क्रीड़ा के सहायक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विनोद हैं, कुछ दैनिक प्रयोजनों के पूरक कार्य हैं और कुछ विशुद्ध मनोविनोद के साधक हैं।

गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकारी, 'सेज बिछाना, फर्श पर विविध प्रकार के पुष्पों से नयनाभिराम आलिम्पन कर्म, फूल बिछाना, दाँत रंगना, जलक्रीड़ा में मुरज, मृदंग आदि बाजों का बजा लेना, माला गूँथना, केश संवारना, हाथीदाँत के आभरण बना लेना आदि सुकुमार कलाओं का ज्ञान उन दिनों प्रत्येक सुसंस्कृत नागरिक के लिए आवश्यक गुण समझे जाते थे। कादंबरी में कुमार चन्द्रापीड़ को सिखायी गयी कलाओं में ऐसी कोई विद्या नहीं, जिसकी चर्चा नहीं है। इनमें पद, वाक्य, प्रमाण, धर्म-शास्त्र, राजनीति आदि शास्त्रीय विषय भी हैं। व्यायाम विद्या, चाप-चक्र, ढाल-तलवार, शक्ति तोमर परशु आदि हथियारों का चलाना, रथचर्या, हाथी को चलाना आदि युद्धोपयोगी बातें भी हैं। वीणा, वेणु, मुरज, कांस्य दे आदि बाजों का बजाना, नृत्य-गीत, गांधर्व वेद आदि मनोविनोद भी हैं; फिर घोड़े की पहचान, पुरुष-लक्षण, स्त्री-लक्षण, चित्रकर्म, पुस्तक-लेखन पत्र-च्छेदन, द्यूतकलायें, पक्षि-विद्या, ग्रहगणित, रत्न-परीक्षा इत्यादि उपयोगी काम भी हैं। दारूकर्म, हाथदाँत का काम, वास्तुविद्या, आयुर्वेद, मंत्रप्रयोग, विष दूर करना, सुरङ्ग-भेद, तैरना, कूदना, इंद्रजाल, कथा, नाटक, आख्यायिका, काव्य, पुराण, इतिहास, देश-विदेश की लिपियाँ, विदेशी भाषाएँ, शिल्प, छन्द, आदि सब जीवनोगयोगी विद्याएँ भी हैं। ये सब कला हैं। सारी जानकारी का नाम ही मानो कला है। कोई विद्या छूटी नहीं। जब कला शब्द का प्रयोग इतना व्यापक है तो यह पूछना ही बेकार है कि कला का प्रयोजन क्या है? कला का एकमात्र प्रयोजन है मनुष्य को सुसंस्कृत मनुष्य बनाना। केवल शुष्क ज्ञानी नहीं, केवल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विडंब-रसिक नहीं, केवल मुट्ठी भर अन्न के लिए कमरतोड़ परिश्रम करनेवाला बैल भी नहीं। कला का उपदेश है ज्ञान और सौन्दर्य का समुचित उपभोग। जो ज्ञान और सौन्दर्य का उपभोग करना चाहे उसे उसका मूल्य भी चुकाना चाहिए। कला शिक्षा में जो श्रम लगता है वही वह मूल्य है।

राजाओं और सम्राटों के कुमारों को भी वह मूल्य चुकाना पड़ता था। प्राचीन भारतीय सौन्दर्य का सम्मान कर सकता था; उसकी रक्षा कर सकता था और उसका भोग भी कर सकता था; क्योंकि वह सौंदर्य के उत्पादन में जो साधना और निष्ठा आवश्यक होती है उससे परिचित होता था। इसीलिए वह महान वस्तुओं का निर्माण कर सका था।

पुराने आचार्यों की गिनायी और समझायी हुई कलाओं को सरसरी निगाह से देखनेवाला व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है कि कला का जीवन से कितना गहरा संबंध है। वह मनुष्य के हृदय, मनीषा और भावावेगों से इस प्रकार नहीं निकली कि दुनिया में उसकी कहीं जड़ ही नहीं जमी हो। कला सीधे मानव-जीवन से प्रसन्न होती है और उसे प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। कला उन सारी बातों का जीवन्त विवरण है जिसे मनुष्य ने देखा है, सोचा है, वह मनुष्य की उस सुसंस्कृत प्रतिभा से उत्पन्न होती है जो उसे पशु के सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर मनुष्यत्व के महान आसन पर बैठाती है। सच्ची कला वही है जो मनुष्य को केवल लोभ-मोह का गुलाम न रहने दे, केवल उदरपरायण इंद्रियदास न बन जाने दे, बल्कि उसे स्वार्थ-बुद्धि से ऊपर उठाये, पर-दुःख कातर बनाये, संवेदनशील बनाये। कला मनुष्य की उस तपस्या का मूर्तरूप है जो उसे विकास की ओर ले जा रही है। तपस्या अपने आपमें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बड़ी चीज नहीं है। तपस्या इसलिए बड़ी है कि उससे मनुष्य में उन मानवोचित गुणों का विकास होता है जिसे सच्ची मनुष्यता कहते हैं। नहीं तो केवल हाथ उठाकर बारह वर्ष खड़े रहने का या पंचाग्नि तापने का अपने आपमें कोई विशेष महत्व नहीं है। जिन साधनाओं के बल पर मनुष्य पशुओं के उस धरातल से ऊपर उठा है जहाँ इंद्रियपरायणता ही के लिए सब उद्योग किये जाते हैं, वे ही सच्ची तपस्याएँ हैं। कला इन्हीं तपस्याओं का साक्षात् फल है। इसने मनुष्य की उस रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है जो मनुष्य को मनुष्यता की ओर ले जाती है। इधर पश्चिम से संसर्ग होने के बाद हमने कई नयी बातें सीखी हैं। अच्छी भी सीखी हैं और बुरी भी। व्यावसायिक क्रान्ति के बाद से पश्चिम के सामाजिक जीवन में बड़ा उथल-पुथल हुआ है। वहाँ की हवा हमें भी लगी है। वहाँ एक प्रकार का वर्ग इस प्रकार का उत्पन्न हुआ है जो साधारण जन-जीवन से प्रायः विच्छिन्न हो गया है। व्यावसायिक युग में प्रवेश होने के बाद हमारे इस पुराने देश में भी इस प्रकार के लोगों का एक समूह पैदा होता जा रहा है। वे समझते हैं कि वे जो कुछ करते हैं उससे दुनिया का क्या। उन्हें जो अच्छा लगा उन्होंने किया; इससे दुनिया खुश हो या नाराज़ हो, बने या बिगड़े—

कवि ठाकुर प्रीति करी है गोपाल सो,
टेरि कहौं सुनौ ऊँचे गले।
हमैं नीकी लगी सो करी हमने,
तुम्हें नीकी लगै न लगै तो भले॥

लेकिन इस प्रकार के विचार गलत ढंग से सोचने का नतीजा है। गलत प्रकार का जीवन यापन करनेवालों के चित्त से ही यह उत्पन्न हुआ है। ऐसी बातें वे ही लोग कह सकते हैं जो समझते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हों कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है। एक के किये का प्रभाव दूसरे पर नहीं पड़ता। कला जिस किसी माध्यम से क्यों न अभिव्यक्त हुई हो, है वह समाज से अविच्छिन्न।

पुराने आचार्यों ने बताया है कि मनुष्य जन्म लेने के साथ-ही-साथ तीन ऋणों का भार लेकर पैदा होता है। वह माता-पिता से उस शरीर को पाता है जिसके पाये बिना उसका जन्म निरर्थक होता; वह संसार का न कुछ देख सकता, न कुछ सुन सकता, न पढ़ सकता, न गुन सकता। यह पितृऋण है। फिर वह अपने पूर्ववर्ती ऋषियों द्वारा संचित ज्ञान-राशि को अनायास पा जाता है। बारहवीं शताब्दी के सबसे बड़े गणितज्ञ को जो बातें मालूम थीं उसे आज गणित का मामूली विद्यार्थी भी जानता है; क्योंकि पूर्व-पूर्व आचार्यों ने कठोर साधना के द्वारा ज्ञान को सहज कर दिया है। हमें हर बात को नये सिरे से नहीं करना पड़ता। बहुत कुछ तैयार मिल जाता है। यह बहुत बड़ा ऋण है। संसार के सभी बड़े विचारक, कवि, कलाकार और दार्शनिक ही ये ऋषि हैं। उनका बड़ा भारी ऋण प्रत्येक मनुष्य के बच्चे पर जन्म के साथ आ जाता है। यही ऋषि-ऋण है। फिर प्रकृति ने हमारे लिए धरती, मेघ, जल, फल-बीज इत्यादि न दिये होते तो सब बेकार होता। प्राचीन भारतीय इन प्राकृतिक शक्तियों को देवता कहा करता था। यह देव-ऋण है। इस प्रकार जन्म के साथ ही मनुष्य इन तीन ऋणों का भार पा जाता है। मनु ने कहा है कि जो व्यक्ति इन तीन ऋणों का शोध नहीं कर लेता उसे मोक्ष आदि बड़े कामों में लगने का अधिकार नहीं है। अब यदि इस बात को गंभीरतापूर्वक विचारें तो हम इसकी सचाई को अस्वीकार नहीं कर सकते। ठीक ही तो है, मनुष्य का बच्चा कितना सौभाग्यवान् जीव है! उसे कितनी विशाल ऋषि-सम्पत्ति और देव-सम्पत्ति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विरासत में मिली है और कितनी बड़ी पितृ-संपत्ति का साधन उसे पूर्वजों की कृपा से मिल गया है। यह क्या स्वतन्त्र और विच्छिन्न है। मनुष्य का शरीर उसे अपने हजार-हजार वर्ष पुराने पुरखों से और भावी संतानों से मिलता है। वह उसे सेतु रूप में प्राप्त है, उसे हजार-हजार वर्ष की कोठोर साधना के परिणाम रूप में मिली हुई ज्ञान-संपत्ति अनायास प्राप्त हो गयी है। किस मुँह से वह अपने को सबसे अलग, सबसे विच्छिन्न और सबसे स्वतन्त्र कह सकता है? न उसका शरीर अपना है, न ज्ञान अपना है, न भाषा अपनी है, न प्राकृतिक देन अपनी है। वह सौ-सौ आकर्षण-विकर्षणों के रज्जु में बंधा हुआ सामाजिक प्राणी है। उसकी प्रत्येक हरकत से मनुष्य समाज में हरकत पैदा होती है। उसके बनने से दुनिया बनती है और बिगड़ने से दुनिया बिगड़ती है। केवल कह देने से कोई समाज से विच्छिन्न नहीं हो जाता।

और कला भी मनुष्य की उसी प्रतिभा का फल है, जो पूर्वजों के दिये हुए शरीर, पूर्वजों की दी हुई भाषा, पूर्वजों के दिये विचार और पूर्वजों के किये कठोर तपःकर्मों का प्रत्यक्ष परिणाम है। यद्यपि वह एक व्यक्ति की ही प्रतिभा और बुद्धि की उपज है, पर वह प्रतिभा और बुद्धि समूचे समाज की वस्तु है। जो जातियाँ पिछड़ी रह गयी हैं; अर्थात् जिनके पूर्वजों को तप करने का सुयोग नहीं मिला, भाषा और विचार देने का अवसर नहीं मिला, वे उतने सुन्दर शिल्प की सृष्टि नहीं कर सकतीं। कालिदास एस्किमो जाति में नहीं पैदा हो सकते और रवीन्द्रनाथ भी बद्दुओं की टोली में नहीं उपजते। प्रतिभा व्यक्ति में स्फुरित होने पर भी वह सम्पूर्ण सामाजिक चेतना का प्रतिफलन है। उससे उत्पन्न वस्तु सीधे सामाजिक जीवन से उत्पन्न होकर सीधे ही सामाजिक जीवन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

को प्रभावित करती है। मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा से बढ़कर और कौन सी वस्तु हो सकती है भला ? शास्त्रकार ने कहा है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।

—तुम्हें यह गुप्त रहस्य बताये जाता हूँ; मनुष्य से बड़ा कुछ भी नहीं है।

हमारे हजारों वर्ष के विशाल इतिहास में कला की प्रयोजनीयता के बारे में कभी सन्देह नहीं किया गया। कला उन समस्त मानवीय प्रयत्नों का नाम है जो मनुष्य को सुसंस्कृत मनुष्य बनाते आ रहे हैं। बड़ी कह देने से कोई बात बड़ी नहीं हो जाती। उद्देश्य बड़ा होने से ही चीज बड़ी होती है। मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से कहा था कि भला जिससे मैं अमर न बन सकूँ, उसे लेकर क्या करूँगी—

येनाहं नामृता स्याम किमहं तेन कुर्याम्।

उद्देश्य ही वस्तु को बड़ा या छोटा बनाता है। कला के नाम पर हमें जो वस्तु दी जाय उसमें भी यही विचार्य है कि क्या वह जीवन को ऊँचा उठा रही है। कला के भाव पक्ष या कला पक्ष की बारीकियों की जानकारी आवश्यक है; पर मूल प्रश्न यह है कि जो वस्तु हमें कला के नाम पर दी जा रही है वह हमारे भीतर मानवोचित गुणों को उदबुद्ध करती है या नहीं। जो वस्तु हमारी मनुष्यता को उद्‌बुद्ध नहीं करती, वह कला हो नहीं सकती। साहित्य के लिए भी यही बात सत्य है। जो भी साहित्य इसके बाहर पड़े अर्थात् हमारी पशु सामान्य वृत्तियों को ही बड़ी करके दिखावे, हमें स्वार्थपरायण और खंड विच्छिन्न बनावे, उसे हम साहित्य नहीं कह सकते, चाहे जितने बड़े साहित्यिक दल या सम्प्रदाय का समर्थन उसे प्राप्त हो। कला मनुष्यत्व की उपज है, मनुष्यत्व की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उद्बोधक है और मनुष्यत्व की विजयध्वजा है। यह कहना बे-मतलब है कि उसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है, वह अपने आप में ही परिसमाप्त एक उद्देश्यहीन वस्तु है। प्रयोजन दो प्रकार के हो सकते हैं, एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। कला का कोई प्रयोजन नहीं, इसका यही अर्थ हो सकता है कि कला का ऐसा कोई प्रयोजन नहीं, जो स्थूल इन्द्रियार्थ का विषय हो। परन्तु सब बड़ी बातों की तरह कला का यह प्रयोजन तो है ही कि वह मनुष्य को 'मनुष्य' बनावे, उसे पशु सामान्य धरातल से ऊपर उठाये। मनुष्यता को उद्बुद्ध करने के महान् उद्देश्य से प्रणोदित कला ही श्रेष्ठ कला है। जो इससे छोटे उद्देश्य को सामने रखकर सामने आवे, उसे हम 'कला' नहीं कह सकते। पुराने पंडित ने इसी बात को इस प्रकार कहा था कि जो कला स्वार्थ-संभोग में ही विश्रान्त हो जाय, इससे आगे न बढ़ सके; उसे कला मानना ही नहीं चाहिए। कला वह है जो जड़-उपभोग की प्रवंचना से बचाकर परमानन्द में मनुष्य को लीन कर दे--

विश्रान्तिर्यास्य संभोगे साकला न कला मता।
लीयते परमानन्दे भवात्मा सा परा कला॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

देवनागरी लिपि

भारतवर्ष की सबसे प्राचीन लिपि 'ब्राह्मी लिपि' ही मानी जाती है। अशोक के शिलालेखों में इसके नमूने पाये जाते हैं। इससे भिन्न अनेक प्रकार की और लिपियाँ भी भारतवर्ष में प्रचलित अवश्य थीं, पर उनके या तो नमूने नहीं मिले या मिले तो अभी तक निश्चित रूप से पढ़े नहीं गये। मोहेन-जो-दड़ो की लिपि अभी भी विद्वानों के अटकल का विषय बनी हुई है और विंध्याचल के कुछ आदिम चिह्नों का अध्ययन अब भी नहीं हो सका है। ललित-विस्तर में कुमार सिद्धार्थ को ८६ कलाओं की शिक्षा देने का उल्लेख है। उसमें 'लिपिमुद्रागणनासालंमधनुर्वेदाः' एक कला है जिसमें विविध लिपियाँ, हाथ की अँगुलियों से विविध आकृतियों का निर्माण, गिनती, संख्याएँ, कुश्ती और धनुर्वेद शामिल हैं। क्या समझकर इनको एक साथ रखा गया है, यह समझ में नहीं आता। संभवतः सैनिक उद्देश्य से कुमारों को इन सारी बातों का एकत्र ज्ञान करवाया जाता था। पर ललितविस्तर से प्रकट है कि बुद्ध के युग में कई प्रकार की लिपियाँ प्रचलित थीं। जैनों का समवायांनसूत्र यद्यपि परवर्ती काल में संकलित हुआ है, तथापि उसकी गवाही पर हम इतना समझ सकते हैं कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

महावीर स्वामी के काल में कई प्रकार की लिपियाँ प्रचलित थीं। पहले तो यह बात कुछ विवादास्पद ही मानी जाती थी। अनेक यूरोपियन पंडितों ने अशोक की लिपि को फिनिशियन लिपि-पद्धति का विकास सिद्ध करने का हास्यास्पद प्रयत्न किया था। इधर बौद्ध और जैन दोनों के ऐतिहासिक अवशेषों से पता चलता है कि बुद्ध और महावीर के काल में जो लिपि प्रधान रूप से समूचे भारत में (या कम-से-कम उत्तर-भारत में) प्रचलित थी, वह अशोक द्वारा व्यवहृत लिपि से बहुत भिन्न नहीं थी। सन् १९१२ ई० में म० म० पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा को अजमेर जिले के बड़ली ग्राम में एक लेख प्राप्त हुआ जिससे अनुमान किया जा सकता है कि वीर संवत् के ८४वें वर्ष में यह लेख लिखा गया था ; अर्थात् ४४३ ई० पूर्व में वह लिखा गया होगा। इसी प्रकार नेपाल की तराई में पिपारवा नामक स्थान पर शाक्यों ने जो स्तूप बनाया था, उसमें भी एक लेख प्राप्त हुआ है। बूलर ने इस लेखक को बुद्ध के निर्माण के कुछ ही बाद का समझा था और सब बातों को ध्यान में रखने पर बूलर का अनुमान ठीक ही जान पड़ता है। बुद्धदेव का निर्माण ४८७ ई० पूर्व में कहा जाता है। संभवतः यह लेख ४८६, ४७५ ई० पू० का होगा। इन लेखों से भारतीय लिपि-परंपरा को हम ढाई हजार वर्ष पीछे तक ढकेलकर ले जा सकते हैं—यद्यपि यह परंपरा और भी पुरानी है। दक्षिण के भट्टिप्रोलू नामक स्थान में पायी गयी लिपि अशोक के बहुत बाद की नहीं है ; फिर भी उसमें बहुत भिन्नता है जो यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि अशोक से पहले मूल लिपि का प्रान्तीय लिपियों में बदला जाना आरंभ हो गया था। इस प्रकार ब्राह्मी लिपि का प्रचार कम-से-कम तीन हजार वर्षों से है। वर्तमान भारतवर्ष की प्रायः सभी लिपियाँ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और तिब्बत, ब्रह्मा, लंका, स्याम, जावा, बाली आदि देशों में फैली हुई लिपियाँ इसी का रूपान्तर-मात्र हैं। जिस लिपि के विषय में हम चर्चा करने जा रहे हैं वह इसी महिमाशालिनी लिपि की आधुनिक प्रतिनिधि है। विशाल देश और विस्तीर्णकाल में व्याप्त होने के कारण यह और भी अधिक गौरव की अधिकारिणी है।

अंग्रेजों के इस देश में आने के पहले एक प्रकार से प्राचीनतर विद्याओं के लिए अंधकार-युग हो चला था। यहाँ के प्राचीन शास्त्रों के मर्मज्ञ सात-आठ सौ वर्षों तक की पुरानी लिपियों को यथाकथंचित् पढ़ लेते थे ; परन्तु पुरानी लिपियों का पढ़ना एकदम भूल चुके थे। चौदहवीं शताब्दी में फिरोजशाह तुगलक ने बड़े परिश्रम से टापरा और मेरठ से अशोक के लेखवाले दो विशाल स्तंभ उठवा मँगवाये थे। परन्तु उन दिनों उस लिपि को पढ़ने-वाला कोई पंडित नहीं मिला। सम्राट् अकबर भी इन लेखों का आशय जानना चाहते थे। परन्तु भारतवर्ष से प्राचीन लेखों को पढ़ने की विद्या लुप्त ही हो गयी थी।

सन् १८३४ ई० में कप्तान ट्रायर ने प्रयागवाले अशोक-स्तंभ पर खुदे हुए समुद्रगुप्त के लेख का कुछ अंश पढ़ा, जिसे उसी साल डाक्टर मिलने पूरा पढ़ लिया। गाजीपुर जिले में सैदपुर भीतरी नामक गाँव के पास एक स्तम्भ है, जिसपर स्कन्दगुप्त ने एक लेख खुदवाया था। सन् १८३७ ई० में डा० मिलने उस समूचे लेख को पढ़ लिया था। इस प्रकार गुप्त-लिपि पढ़ ली गयी। परन्तु ब्राह्मी लिपि फिर भी दुर्बोध्य ही समझी जाती रही। जिस साल कप्तान ट्रायर और डा० मिल ने गुप्त-लिपि पढ़ डाली थी, उसी साल जेम्स प्रिंसेप ने ब्राह्मी लिपि को पढ़ने का कठिन प्रयत्न किया। उन्होंने इलाहाबाद, रधिया और मथिया और दिल्लीवाले

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लेखों को मिलाकार यह निष्कर्ष निकाला कि यह चारों लेख एक ही लिपि के हैं। फिर उन्होंने गुप्त-लिपि से मिलते अक्षरों को छाँटा और ब्राह्मी-लिपि के कई अक्षर पढ़ लिये। बाद में रेवरेण्ड जेम्स स्टीवेन्सन, लाँसन आदि पंडितों की सहायता और उद्योग से पूरी ब्राह्मी वर्णमाला पढ़ी जा सकी। ब्राह्मी लिपि के पढ़े जाने के बाद से भारतवर्ष की अन्य लिपियों का पढ़ना सुगम हो गया। एक खरोष्ठी लिपि में अवश्य समय लगा; परन्तु हमारे आज के प्रसंग से उस लिपि का बहुत थोड़ा ही सम्बन्ध है। इसलिए उसके बारे में हम विशेष कुछ नहीं कहेंगे। एक बार पुरानी लिपियों की जानकारी होते ही भारतीय इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ जाँची जाने लगीं। सिक्के पढ़े गये, शिला-लेख जाँचे गये, पुरानी पोथियाँ पढ़ी गयीं और दानपत्रों के रहस्य उद्घाटित हुए। प्रत्येक शताब्दी और प्रत्येक प्रदेश की लिपि-विषयक विशेषताएँ समझ ली गयीं और यह सिलसिला आज भी चल रहा है। यद्यपि पुरानी लिपियों के पढ़ने में विदेशी पडितों का प्रयत्न ही प्रमुख रहा है, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने देशी पंडितों की सहायता के बिना ही यह कठिन कार्य किया था। गुप्त-लिपि और ब्राह्मी लिपि के पढ़ने में अनेक अज्ञात और विस्मृत देशी विद्वानों ने बहुमूल्य सहायता पहुँचायी थी। फिर भी प्रधान प्रयत्न यूरोपीय पंडितों का था। भविष्य में भारतवर्ष सदा उनका ऋणी रहेगा।

आज स्थिति यह है कि हमें लगभग ढाई हजार वर्षों के सभी लिपि-चिह्नों की जानकारी हो गयी है; केवल इससे पहले के लिपि-चिह्नों की जानकारी संदिग्ध रह गयी है। इन ढाई हजार वर्षों के इतिहास से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट हुआ है। हमारी लिपि-पद्धति में एक धारावाहिकता है। कम-से-कम ढाई हजार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वर्षों से हमारी ध्वनियाँ एक सी हैं, वर्णमाला एक है, किन्तु लिपि-चिह्न सर्वत्र और सर्वदा एक नहीं रहे। इस समय हमारे पास जो ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है उससे स्पष्ट है कि वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण के लिए दर्जनों चिह्नों का हम व्यवहार कर चुके हैं और आज भी कर रहे हैं। इन चिह्नों के विकास का अध्ययन जिन विद्वानों ने किया है वे बताते हैं कि ये सभी लिपि-चिह्न ब्राह्मी के लिपि-चिह्नों से ही विकसित हुए हैं। कभी-कभी लेखन-सामग्री के भेद से चिह्न भिन्न हो गये हैं, कभी-कभी लेखन-शैली के वैशिष्ट्य के कारण चिह्न अलग हो गये हैं। विचार करके देखा जाय तो लिपि-चिह्नों में बहुत अन्तर होते हुए भी वे एक ही लिपी के विकसित रूप हैं। इसलिए इस ओर से भी इनमें एक धारा-वाहिकता रह गयी है। परन्तु फिर भी व्यवहार में वर्णों के अनेक चिह्न अब तक चल चुके हैं और और आज भी चल रहे हैं। कुछ रहस्यवादी (!) विचारक इन चिह्नों की आध्यात्मिकता का दावा करने लगे हैं पर लिपि का इतिहास साक्षी है कि चिह्नों के रूप अन्य कारणों से बदलते रहे हैं। बदले हुए लिपि-चिह्नों में कभी-कभी आध्यात्मिक रूपों का आरोप हुआ है, परन्तु वह दूसरी बात है। जब जिस साधक के सामने जो लिपि-चिह्न रहा, उसने उसीको देखकर अपनी आध्यात्मिक व्याख्या खड़ी की है। मुस्लिम सन्तों ने अलिफ-बे वाली लिपि के चिह्नों में (और क्रम में भी) आध्यात्मिक तथ्य खोज निकाले हैं और हिब्रू वर्णमाला में भी ऐसे आध्यात्मिक तत्त्वों के खोजे जाने का प्रमाण मिल सकता है। अस्तु।

वर्तमान नागरी लिपि के प्राचीनतर रूप का आभास नवीं शताब्दी के शिलालेखों से मिलने लगता है। कुछ विद्वानों का मत तो यह भी है कि इसका प्रथम आभास दक्षिण के राष्ट्रकूट

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

राजा दन्तिदुर्ग के एक दान-पत्र में मिलता है जो कोल्हापुर के सामनगढ़ नामक गाँव में मिला था। इसका समय ६७५ शाके अर्थात् ७५४ ई० है। दक्षिण में बहुत दिनों तक यह लिपि चलती रही है। इसे वहाँ नन्दिनागरी कहते रहे। इस प्रकार नागरी को जो वर्तमान रूप प्राप्त है, उसका प्रथम आरंभ दक्षिण से हुआ समझना चाहिए। दक्षिण में आजकल बहुत-से लोग नागरी लिपि से अकारण असंतुष्ट हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा ने आज से चालीस वर्ष पूर्व लिखा था कि "उत्तर में इसका (नागरी का) प्रचार ई० स० की नवीं शताब्दी के अन्त के आसपास से मिलता है; परन्तु दक्षिण में इसका प्रचार ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी से होना पाया जाता है। क्योंकि दक्षिण के राष्ट्रकूट (राठौर) वंश के राजा दन्तिदुर्ग के सामनगढ़ (कोल्हापुर राज्य में) से मिले हुए शक-संवत् ६७५ (ई० सं० ७५४) के दानपत्र की लिपि नागरी ही है और दक्षिण के पिछले कई राज्य-वंशों के लेखों में इसका प्रचार ई० स० की १६वीं शताब्दी के पीछे तक किसी प्रकार मिल आता है। दक्षिण में इसे 'नंदिनागरी' कहते हैं!"

इस प्रकार दक्षिण और उत्तर-भारत में नागरी लिपि का प्राचीनतर रूप आठवीं-नवीं शताब्दी से चला आ रहा है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी से नागरी ने इस रूप को धारण किया, जो संस्कृत ग्रन्थों के लिए लगभग समूचे उत्तरी भारत में प्रचलित रहा। दक्षिण में भी महाराष्ट्र में इस लिपि का प्रचलन रहा और पूर्वी और पश्चिमोत्तरीय सीमाओं के अतिरिक्त लगभग समूचे उत्तर-भारत में इस रूप का ही प्रचार रहा है। अनेक आधुनिक प्रांतीय लिपियाँ या तो इसी का ही त्वरालिखित रूप हैं या इसके प्राचीनतर रूप से विकसित हुई हैं। कुछ लोग गलती से इसे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हिंदी लिपि कहते हैं। पिछली शताब्दी से यह समूचे भारतवर्ष में संस्कृत के लिए व्यवहृत होती आ रही है। कलकत्ता, बम्बई, बनारस, मद्रास, कश्मीर, बड़ौदा, मैसूर, त्रिवांकुर आदि विभिन्न संस्कृत-केंद्रों से प्रकाशित होनेवाली महत्त्वपूर्ण ग्रंथमालाएँ इसी लिपि में छपती रहती हैं। प्रान्तीय लिपियों में भी कभी-कभी संस्कृत पुस्तकें छपती अवश्य हैं; पर उनका प्रचार सीमित क्षेत्र तक रह जाता है। कई प्रान्तों में इसे 'संस्कृत लिपि' ही कहा जाने लगा है। इस समय हिंदी तो इसी लिपि में लिखी ही जाती है; मराठी और नेपाली और नेवारी भाषाओं के लिए भी यह लिपि व्यवहृत होने लगी है। मिथिला और राजपूताने में यह आन्दोलन चल रहा है कि वहाँ की भाषा यथाक्रम मैथिली और राजस्थानी हैं, हिंदी नहीं। यह कुछ संतोष की बात है कि लिपि के बारे में इन प्रदेशों में कोई मतभेद नहीं प्रकट किया गया। राजस्थानी और मैथिली की पुस्तकें भी नागरी लिपि में छप रही हैं।

हमारी बहुत-सी आदिम कही जानेवाली जातियों की कोई लिपि नहीं थी। ईसाई पादरी लोगों ने उनमें प्रचार-कार्य किया था। इन पिछड़ी जातियों के भाइयों को सुरक्षित और समुन्नत बनाने में इन लोगों का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। इन लोगों ने इनकी भाषा को रोमन लिपि में लिखने-छापने की व्यवस्था की थी; परन्तु अब ये भाषाएँ भी देवनागरी में लिखी जाने लगी हैं। इस प्रकार यद्यपि क्षीण रूप में, तथापि व्यापकभाव से, देवनागरी का प्रचार बढ़ता जा रहा है। प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि देवनागरी के समान वैज्ञानिक लिपि दूसरी नहीं है; परन्तु फिर भी इस लिपि को अब तक उतना आदर और महत्व नहीं दिया गया, जितने की वह वास्तव में अधिकारिणी है। प्राचीन काल में लगभग आधे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

से अधिक सभ्य जगत् में इस लिपि की महिमा स्वीकार कर ली गयी थी, परंतु भारतवर्ष की राजनीतिक पराधीनता और सामाजिक अनुन्नति के कारण उसका सम्मान घट गया था। अब देवनागरी महान् भारतवर्ष की महान् राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार कर ली गयी है। जल्द ही वह संसार की सर्वोत्तम लिपि के रूप में स्वीकार की जायगी। पूर्वग्रह और ईर्ष्या-द्वेष से विषायित इस जगत् में उचित वस्तु का उचित आदर शीघ्र ही हो जायगा, ऐसी आशा तो नहीं करनी चाहिए ; परंतु मनुष्य की जीवनी शक्ति बहुत शक्तिशाली होती है। सामाजिक मनुष्य की मंगलयात्रा थोड़ी बाधा अवश्य पाती है, पर वह व्याहत कभी नहीं होती। वह समूचे मोह-जाल को तोड़कर आगे निकल जाती है। एक-न-एक दिन सही वस्तु अवश्य सही स्थान पर आयेगी। इस आशा को हमें छोड़ना नहीं चाहिए। केवल अंध-आसक्ति, अकारण ईर्ष्या-द्वेष संसार में विजयी नहीं हो सकते। मनुष्य की जीवनी शक्ति इन सबको फेंक देगी। सामाजिक मनुष्य की मंगलयात्रा अन्त तक अवश्य विजयी होगी।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि हमारे देवनागरी-विषयक मोह को वह जीवनी शक्ति नहीं स्पर्श करेगी। यदि हमने किसी प्रकार का मोह रखा तो वह भी निश्चित रूप से नष्ट होकर रहेगा। काल-विधाता के कठोर कशाघात से कोई नहीं बच सकता। जो जीर्ण-शीर्ण है वह झड़ जायगा, जिसमें आगे बढ़ने की शक्ति है वह आगे बढ़ जायगा। मुझे लगता है कि देवनागरी के विषय में हमें थोड़ा मोह भी है। उसके अब तक कम से कम २५-३० रूप बन चुके हैं। मनुष्य ने अन्त तक सबका बोझा नहीं ढोया है। कुछ थोड़े रूप ही बच रहे हैं। यदि हम यह आशा किये बैठे हैं कि उसका वर्तमान रूप ज्यों-का-त्यों रह जायगा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तो यह दुराशा-मात्र है। इस बात के लक्षण दिखने लगे हैं। अपने ही देश के कुछ विद्वान और विचारक नागरी के विरुद्ध हो रहे हैं। कुछ थोड़े से लोगों के विषय में ईर्ष्या और पूर्वग्रह का दोष लगाया जा सकता है; पर रोमन लिपि के पक्ष में जानेवाले सभी विद्वानों पर ऐसा दोष नहीं लगाया जा सकता। उनकी बात सावधानी से सुनने और समझने योग्य है। कुछ कारण होना चाहिए जिससे खिन्न होकर वे देवनागरी का विरोध करने लगे हैं। उन बातों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए और यदि मोहवश हमने उन्हें स्वीकार कर रखा है तो उनको तुरन्त त्याग देना चाहिए और उन्हें सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह ठीक-ठीक समझ रखने की बात है कि भारतीय वर्णमाला और देवनागरी लिपि एक ही वस्तु नहीं है। लिपि वर्णों के संकेत-चिह्नों का नाम है। भारतीय वर्णमाला बहुत ही वैज्ञानिक है। यद्यपि यह दावा ठीक नहीं है कि संसार भर की सभी भाषाओं को हम इस वर्णमाला में यथोच्चरित रूप में गाँथ सकते हैं; पर यह ठीक है कि संसार की दूसरी कोई वर्णमाला उच्चरित रूप के इतने निकट नहीं पहुँच सकती। लिपि अर्थात् वर्णों का संकेत-चिह्न व्यवहार की सुविधा के लिए है। कागज पर लिखने के लिए जो लिपि प्रयुक्त होती थी, वह तालपत्र पर कुछ बदली जाती थी। आधार के अन्तर से लिपि के परिवर्तित होने का अर्थ हुआ कि व्यवहार की सुविधा के लिए बदलना। मूल बात विशुद्ध वर्णमाला है। उसके लिए संकेत-चिह्न व्यवहार की सुविधा की दृष्टि से परिकल्पित हुए हैं। आज भी भारतीय वर्णमाला कम-से-कम दो दर्जन रूपों में लिखी जाती है। इसलिए किसी चिह्न को शाश्वत या सनातन मानना ठीक नहीं है। 'अ' के लिए बँगला में दूसरा चिह्न है, गुजराती में तीसरा, उड़िया में चौथा, तिब्बती में पाँचवाँ, बर्मी में छठा, सिंहली

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

में सातवाँ। मलयालम, तेलुगु, तमिल, महाजन, मुंडिया, कैथी इत्यादि में उसके अनेक रूप हैं। ऐसी अवस्था में यदि 'अ' के लिए 'A' ऐसा, 'उ' के लिए 'U' ऐसा एक और रूप मान लें तो क्या बिगड़ता है? इसमें सुविधा यह है कि यह दुनिया के प्रायः हर हिस्से में प्रचलित है। इसमें मुद्रण, टंकन, दूरप्रसारण आदि के उत्तम यन्त्र बन गये हैं। इसी को रोमन लिपि कहते हैं। कुछ विद्वान् गम्भीरतापूर्ण कहने लगे हैं कि क्यों न रोमन लिपि को अपना लिया जाय। हम वर्णमाला नहीं बदलेंगे, उसपर हमें गर्व है। हम क ख ग घ तो आज ही जैसा पढ़ते जायँगे। पर उनके लिए चिह्न नये ढंग के Ka, Kha, Ga, Gha, प्रयोग करेंगे। इस विचार के विद्वान् संस्कृत ग्रन्थों को रोमन लिपि में छापने का प्रयत्न करते हैं। एक विश्वविद्यालय में प्रस्ताव आया था कि संस्कृत की प्रवेशिका परीक्षा (मैट्रिकुलेशन) के प्रश्नपत्र में १० प्रतिशत अंश संस्कृत को रोमन लिपि में लिखने के लिए रखा जाय। सुप्रसिद्ध भाषातत्त्वज्ञ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भी इस मत के हैं। और तो और अत्यन्त दृढ़ पुराने विचारों के पोषक पं० विधुशेखर शास्त्री जी ने अपनी संपादित एक पूरी संस्कृत पुस्तक को रोमन लिपि में छपवाया है। पाली-टेक्स्ट सोसाइटी ने पाली के समग्र ग्रन्थों को रोमन लिपि में छपवाया। किसी जमाने में ऋग्वेद के भी रोमन लिपि में छापने का प्रयास हुआ था। सुप्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर ने ऋग्वेद को जब प्रकाशित करना चाहा, तब उन्हें भी रोमन लिपि में छापने का सुझाव दिया गया था। उन्होंने दोनों लिपियों में कुछ अंश को छापकर देखा तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया कि रोमन की अपेक्षा देवनागरी कम स्थान घेरती है। इसलिए रोमन का विचार उन्होंने एकदम छोड़ दिया। परन्तु रोमन लिपि में संस्कृत-पाली प्रभृति पुरानी भाषाओं को छापने के प्रयत्न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बहुत दिनों से चल रहे हैं। कारण क्या है? कारण सिर्फ यही है कि इन विद्वानों का विचार है कि इस युग में रोमन लिपि अधिक व्यवहार्य है। किसी अन्य भारतीय लिपि को उसकी तुलना में रखा ही नहीं जा सकता। व्यवहार की सुविधा के चार पक्ष हैं—(१) हाथ से लिखने की सुविधा, (२) मुद्रण-व्यवस्था (अर्थात् कम्पोजिंग, मोनोटाइप, लाइनोटाइप आदि की सहूलियत), (३) टेलीप्रिंटर और (४) टाइपराइटर। इन चार बातों के कारण देवनागरी लिपि में सुधार की आवश्यकता है।

साधारणतः विद्वानों का विचार है कि हाथ से लिखने में देवनागरी लिपि रोमन की अपेक्षा मन्द गति से चलती है। हिंदी के एक प्रसिद्ध विद्वान् और प्रेमी हिंदी में पत्र लिखते-लिखते जब देखते हैं कि समय कम रह गया है, तब अँग्रेजी में लिखना शुरू कर देते हैं। कई बार लिपि-सुधार-समितियों के सामने गवाही देनेवाले विद्वानों ने इस दोष को स्वीकार किया है। काका कालेलकर, डॉ० गोरखप्रसाद आदि विद्वान् कहते हैं कि नागरी अक्षरों की शिरोरेखाएँ यदि हटा दी जायँ तो वह सहज-लेख्य हो जाय। नागरी के जो रूप व्यवहार में प्रचलित हैं, जैसे कैथी, महाजनी, मुँडिया आदि—उनमें शिरोरेखाओं की विशेष परवाह नहीं की जाती। फिर नागरी-लेखक को कलम दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे घुमाना पड़ता है और कई बार उठा-उठाकर लिखना पड़ता है। रोमन प्रधान रूप से दाहिनी ओर बढ़ती रहती है; इसीलिए वह अधिक शीघ्रता से लिखी जाती है। मुद्रण के सम्बन्ध में ध्यान में रखने की बात है कि इन दिनों जो देवनागरी के टाइप-केस हैं, उनकी संख्या बहुत अधिक है। कम्पोजिटर को ७०० से ९०० तक टाइप-केसों को लेकर काम करना पड़ता है। रोमन में बहुत कम हैं। इसलिए यदि हमें हिन्दी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मुद्रण को गतिशील और सस्ता बनाना है तो अविलंब ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इनकी संख्या कम हो। हमारे अक्षरों का तिमंजिला गठन मुद्रण-संबंधी असुविधाओं को बढ़ाता है। शुरू-शुरू में ईसाई मिशनरियों ने नागरी टाइप बनाया था। उनका प्रयत्न प्रशंसनीय था और उन्होंने इस देश की बहुत महत्त्वपूर्ण सेवा की थी; लेकिन उन्होंने जो ढंग अख्तियार किया था, उसमें दोष थे। कोई जरूरी नहीं कि आज जब सुधार के साधन मौजूद हैं, हम उसी पर अड़े रहें। ऊपर, बीच में और नीचे अक्षरों की पल्टन सजाने में कोई एक-दो कठिनाई नहीं है। यदि इसमें सुधार हो जाय तो देवनागरी रोमन से कहीं अधिक उपयोगी हो जाय। इकार की मात्रा अक्षर के पहले लगती है जब कि उसका उच्चारण बाद में होता है। एकार, उकार की मात्राएँ क्रमशः ऊपर-नीचे, साथ-साथ लगी रहती हैं। ये सब दोष हैं। इनको हटाना चाहिए। कभी-कभी थोड़ा-बहुत यत्न इस विषय में हुआ है; पर बहुत करने की आवश्यकता है। टाइपराइटर के लिए भी इस प्रकार के सुधारों की आवश्यकता है। श्री श्रीनिवासजी ने जो अक्षर सुझाये हैं, उनके १२ स्वर और २६ व्यंजन-चिह्न हैं। उनका दावा है कि इतने से ही सबका काम चल सकता है—मोनोटाइप और लाइनोटाइप का भी। और भी कई विद्वानों ने अनेक प्रकार के सुझाव दिये हैं।

आज सुधारों के प्रस्ताव पर मैं विचार नहीं कर रहा हूँ। केवल इस बात की आवश्यकता पर जोर देना चाहता हूँ कि सुधार आवश्यक है। मुद्रण और टंकन की उपयुक्त व्यवस्था नहीं हुई तो हमारी लिपि प्रतिद्वंद्विता में पिछड़ जायगी। कुछ लोगों ने सुझाया है कि इन अक्षर-चिह्नों में आध्यात्मिक तत्त्व हैं। ऊपर के चिह्न स्वर्ग प्रतीक हैं, बीचवाले मर्त्य के और नीचेवाले पाताल के। कुछ लोगों ने कहा है, ऊपरवाले सत्वगुण हैं, बीचवाले रजोगुण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और नीचेवाले तमोगुण। कुछ लोगों ने तांत्रिक रहस्यवाद के साथ इन चिह्नों का संबंध माना है। यह सब बात की बात है। इतना बोझ न रहना ही अच्छा है। लिपि पर अगर आध्यात्मिकता और पवित्रता तथा रहस्यात्मकता का इतना बोझ लादा जायगा तो वह आगे नहीं बढ़ सकेगी। जिसे संसार में आगे निकल जाने की हौंस है, वह शोभा और शुचिता का इतना बड़ा बोझा नहीं ढो सकता। हमारी लिपि व्यवहार में ठीक काम देनेवाली लिपि होनी चाहिए। उसका उद्देश्य यही है कि मनुष्य के सुचिन्तित और उचित विचारों को वह जन-साधारण में प्रचारिक करे ; एक मनुष्य की आशा-आकांक्षा को दूसरे मनुष्य तक पहुँचा दे। देवताओं और सिद्धों की दृष्टि से वह बची रहे तो अच्छा हो।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तुलसीदास का स्मरण

तुलसीदास का स्मरण करते लोगों को देखता हूँ तो यह प्रश्न उठता है कि क्यों लोग ऐसा करते हैं? विद्यार्थियों का ऐसा करने का कारण समझ में आ जाता है। तुलसीदास कोर्स में रख दिये गये हैं। परीक्षा की वैतरणी पार करने के लिए यह आवश्यक है। मैं इसे बुरा नहीं कहता। कोई न कोई मतलब जरूर रखना चाहिए। नहीं तो कोई क्यों पचड़े में पड़े? उपनिषद् के ऋषि ने बिना झिझके कह दिया था कि दुनिया में सब अपने मतलब के साथी हैं; पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, अपने लिए पुत्र प्रिय होता है। पत्नी के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, अपने लिए पत्नी प्रिय होती है। सो हर आदमी यदि अपने फायदे की बात सोचकर काम करे तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता। मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो ऐसे अवसरों पर कर्तव्य की याद दिलाकर लोगों को पुण्य कार्य करने के लिए प्रेरित किया करते हैं। आदमी भले होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं; पर जरा नीरस होते हैं। और हजार अपवाद मुझे दे लीजिये; लेकिन नीरस कहाना मुझे पसन्द नहीं है। खैर, सवाल यह है कि और दस भले आदमी जो ऐसा करते हैं, वे क्या पाते हैं? पाते जरूर हैं, नहीं तो करते क्यों? ऋषि के शब्दों को जरा बदलकर कहें तो कह सकते हैं कि तुलसीदास के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तुलसीदास प्रिय नहीं हैं, अपने लिए तुलसीदास प्रिय हैं। और प्रेम कुछ ऐसी रहस्यजनक वस्तु है कि उसका विश्लेषण नहीं चल सकता। प्रिय को कौन-सी बात प्रिय लगी, क्यों प्रिय लगी, कितनी प्रिय लगी, कैसे प्रिय लगी—कौन विश्लेषण करेगा ? प्रेम ऐसी अद्भुत चीज है कि यदि इसका विवेचन करो तो अन्तर्धान हो जाता है; न विवेचन करो तो समझ में ही नहीं आता। सो हर भले आदमी से यह पूछना उचित भी नहीं दिखता कि क्यों तुम्हें तुलसीदास से प्रेम है। पर वह पंडित ही क्या जो अनबोलते की जबान पर बैठकर न बोले ? सो आलोचक पंडित यों ही चुप रहने-वाला नहीं। आपसे पूछूँगा और यदि आप नहीं बोले तो आपकी जबान पर बैठकर बोलूँगा। मुझमें इतनी हिम्मत भी नहीं कि अनबोलते प्रेमी की जबान पर सवारी करूँ ?

सब सोच-विचार कर देखा है तो यही उचित जान पड़ा है कि सबकी बात कहने के पचड़े में न पड़कर अपनी ही बात कहूँ। शायद कुछ कहने लायक कह जाऊँ। कम से कम उन सहृदयों के मन-लायक तो कह ही जाऊँगा, जो समानधर्मा हैं; जो मेरे ही समान कर्तव्य-द्वन्द्व के शिकार हैं; जिनके मन में कर्म-विचिकित्सा के साथ आत्म-ग्लानि के भाव भी उदित होते रहते हैं। मुझे तुलसी-दास का स्मरण करने में विशेष आनन्द आता है। यह जो व्यक्ति आज हमारे लिए इतना पूज्य है, कोटि-कोटि भारतवासियों के हृदय और मस्तिष्क को बल दे रहा है वह कोई राजा-महाराजा नहीं था, लक्ष्मी का लाड़ला सपूत नहीं था, शास्त्रार्थ सभा में पंडितों को पराजित करने वाला कीर्ति-जिजीषु पंडित नहीं था, विद्यापीठों की कठोर रणभूमि के अदृश्य विकट संग्राम में विजयी महारथी नहीं था—बल्कि बहुत ही साधारण गृहस्थ परिवार में उत्पन्न हुआ था। औसत से कहीं नीचे उसकी आर्थिक स्थिति थी। अपनी दीनता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बनाने के आवेश में कभी-कभी इस महापुरुष ने ऐसी बातें कही हैं जो हृदय को गला देती हैं—हाय, हाय, कैसा भाग्यहीन रहा होगा वह बालक, जिसके माँ-बाप ने जनमते ही स्वर्ग का रास्ता लिया—'माता-पिता जग जाय तज्यौ'—और फिर 'विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।' जीवन भर इस महान पुरुष को अपनी वह दारुण दुरवस्था नहीं भूली—'बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार फिरौं, जानत हौं चारि फल चारि ही चणक को।' इतने बड़े पुरुष के भाग्य में क्या यही लिखा था कि—'माँगि के खैबो मसीति को सोइबो।' गरज, जनम के समय परिस्थितियाँ बड़ी विषम थीं। जो लोग कठिनाइयों में हैं, दरिद्रता की मार से त्रस्त हैं, उन्हें निराश होने की जरूरत नहीं। जब-जब मुझे तुलसीदास की बात याद आती है, तब-तब ये लगता है कि परिस्थितियाँ मनुष्य को कष्ट पहुँचा सकती हैं, धक्का दे सकती हैं, पर रगड़कर नष्ट नहीं कर सकतीं। मनुष्य परिस्थितियों से बड़ा है बसर्ते कि वह मनुष्य हो, काम-क्रोध का पुतला जड़-पिंड नहीं, लोभ-मोह का गुलाम पशु नहीं, किसी प्रकार जीवित रहकर मरने की तैयारी करते रहनेवाला भुनगा नहीं—'मनुष्य'।

परिस्थितियाँ बाल्यकाल में तुलसीदास के प्रतिकूल थीं—बहुत प्रतिकूल! और युवावस्था में?—बहुत अच्छी नहीं। कहते हैं कि स्त्री के उपदेश से उन्होंने घर-बार छोड़ दिया था। चोट लगी थी, यह सब जानते हैं। कितनी बड़ी चोट थी, इसका पता किसी को नहीं। युवावस्था बहुत सुख की नहीं थी, यह तो स्पष्ट ही है। काशी में पंडितों ने उन्हें बड़ा तंग किया था—गाली-गलौज, डाँट-फटकार। हमेशा से ही ऐसा होता आया है। बड़े तेज को बर्दाश्त नहीं कर सकने से लोग गाली-गलौज पर उतर आते हैं। कहना शुरू किया, यह जुलाहा है; यह अघोरपंथी है, यह यह है,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

यह वह है। तुलसीदास हैरान! हे विधाता, लोग इतने दारुण क्यों हो जाते हैं! बोले, 'धूत कहौ, अवदूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलहा कहो कोऊ; काहू की बेटी सों बेटा न व्याहब'...इत्यादि। बड़ी मानसिक ग्लानि के समय तुलसीदास-जैसा महात्मा ऐसी बात कह सकता है। अपने प्रसिद्ध भजन 'कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो' में उन्होंने कहा है कि कभी ऐसा होता कि मुझे सन्त-सुभाव मिल जाता और 'पुरुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।'—कितनी करुण प्रार्थना है! पुरुष-वचनों का प्रहार उनपर हुआ था, चोट भी लगी थी, तिलमिलाकर रह गये थे। उत्तर तो वे क्या देते? इतनी मात्रा में जहर पीकर इतना अमृत देनेवाला आदमी चोट का जवाब चोट से कैसे दे सकता था? परन्तु जलन होती थी। वे अपने राम से यह प्रार्थना करते थे कि नाथ, शक्ति दो कि इस आग में न जलूँ।

वृद्धावस्था में उनकी क्या अवस्था थी, कहना कठिन है। सम्मान थोड़ा मिलने लगा था। डा० माताप्रसादजी ने खोज निकाला है कि उन्हें महन्ती भी मिल गयी थी कुछ दिनों के लिए—'तुलसी गुसांई भयो भोंड़े दिन भूलि गयो।' लेकिन निभी नहीं। निभ कैसे सकती है? जलते अंगारे को आँचल में कैसे बाँधा जा सकता है? महन्ती छूट गयी। वृद्धावस्था में काशी में भयंकर महामारी हुई। भयंकर महामारी—सारा बनारस शव-संकुल हो गया। पीड़ा से व्याकुल नर-नारी, हाय-हाय 'उछरत उतरात हहरात मरिजात' और फिर तुलसीदास को भी बीमारी हुई—दारुण बीमारी। शायद प्लेग, शायद और कोई रोग जो अन्त तक ऐसा भीषण हुआ कि सारा रक्त ही विषाक्त हो उठा। उन्होंने उसे भी सहा, परुष-वचन की चोट को निर्घात सह जानेवाले महात्मा को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

यह बीमारी कहाँ तक विचलित करती ? बोले, राम-राम को जो मैं भूल गया उसी का यह फल है—'ताते तनु पेखियत घोर बरतोर मिस फूटि-फूटि निकसत लोन राम-राम को।' सो अन्तिम अवस्था भी बहुत सुख की नहीं मालूम पड़ती—औसत आदमी से कुछ खराब ही कही जा सकती है। ऐसा यह महापुरुष था, जिसकी कृतज्ञतापाश में बद्ध होकर आज कोटि-कोटि नर-नारी भक्ति-गद्‌गद हो उठते हैं। क्यों यह महापुरुष 'महापुरुष' बन गया ? अपने महान् लक्ष्य के प्रति अखंड विश्वास के कारण। उन्हें लक्ष्य मिल गया था। इस संसार में नित्य फेन बुद्-बुद् की भाँति उठते-गिरते रहनेवाले मनुष्यों की कमजोरी उन्हें मालूम हो गयी थी। मालूम तो बहुत पोथी-पढ़ुवों को हो जाती है; पर उनका विश्वास नहीं होता। उनके चित्त में वह दृढ़ता नहीं होती कि जो कुछ अच्छा है वह इसलिए कि उससे राम का सम्बन्ध है—'नाते एक राम से मनियत सुहृद सु सेव्य जहाँ लौं।' बड़े आदर्श के सामने सब-कुछ तुच्छ है। संसार में जिन बातों को बड़े से बड़ा लेबिल लगाकर विज्ञापित किया गया है, उनका मूल्य कुछ भी नहीं है यदि मनुष्य के बड़े-से-बड़े आदर्श के अनुकूल नहीं है। छोटी-से-छोटी वस्तु उस आदर्श से सम्बद्ध होकर महान् हो उठती है। परन्तु यह बात कहने की नहीं है, जीवन में उतारने की है। जो लोग आदर्श की बात केवल मुँह से किया करते हैं, जीवन में नहीं उतारते, वे बड़े नहीं हैं, न हो सकते हैं। तुलसीदास ने इस आदर्श को जीवन में उतारना चाहा था। इसलिए वे बड़े हुए। उनका जीवन उन सब लोगों के लिए आशा का सन्देशवाहक है, जो परिस्थितियों की चोट से घबराये हैं। यदि उनका अपने लक्ष्य पर भरोसा हो, दृढ़-विश्वास हो तो चिंता की कोई बात नहीं। विपत्ति वह नहीं है जिसे हम साधारण लोग विपत्ति कहा करते हैं और हाय-हाय किया करते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हैं। आदर्श से च्युत होना, लक्ष्य से स्खलित होना ही विपत्ति है—

कह हनुमन्त विपत्ति प्रभु सोई।
जब तव सुमिरन भजन न होई ॥

जब तक मनुष्य अपने लक्ष्य के प्रति स्थिर है, तब तक विपत्ति कैसी?

अभी तक हम जिस तुलसीदास का कष्ट कहते आये हैं, वह सब उनके लिए कष्ट नहीं था; क्योंकि उनका लक्ष्य स्थिर था, उसपर अटूट आस्था थी, वे पहाड़ की भाँति स्थिर थे। हम साधारण जीवों की सबसे बड़ी विपत्ति यह है कि हमारे जीवन का लक्ष्य ही नहीं स्थिर हुआ। और जिसके जीवन का लक्ष्य ही नहीं स्थिर हुआ, वह मनुष्य कहाँ बना? उसमें और भुनगों में क्या अन्तर है जो नित्य उजपते-मरते रहते हैं? और जो मनुष्य ही नहीं बना वह परिस्थितियों को कैसे जीतेगा; परिस्थितियाँ ही उसकी कमर तोड़ देंगी। तुलसीदास को स्मरण करने का अर्थ अपने महान् लक्ष्य स्थिर करना, उसपर आस्था रखना और उसे जीवन में उतारना है। तुलसीदास का जीवन औसत आदमियों को नयी आशा, नयी उमंग और नया उत्साह देता है। वह पुकार-पुकारकर कहता है कि घबराओ नहीं, बड़े लक्ष्य की बात सोचो, सिद्धि अवश्य मिलेगी। मुझे इस बात से बड़ा उल्लास अनुभव होता है और मेरा विश्वास है कि मेरे-जैसे और लोग भी होंगे जिन्हें इस बात से उल्लास अनुभव होता होगा। आश्चर्य नहीं कि जो लोग तुलसीदास का स्मरण करते हैं, उन्हें अनजान में इसी उल्लास का अनुभव होता हो। उस उल्लास में थोड़ा कृतज्ञता का भाव तो रहता ही है, रहना ही चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रवीन्द्रनाथ की आशाभूमि

जब कभी कविवर रवीन्द्रनाथ के विषय में लिखने का प्रयत्न करता हूँ तभी एक विषम समस्या उठ खड़ी होती है—कहाँ से शुरू करूँ ? सबसे पहली बात जो बिना सोचे ही मन में आ जाती है, वह है मनुष्य की जय-यात्रा में उनका अखण्ड विश्वास। वे केवल कल्पना-विलासी कवि नहीं थे, वे द्रष्टा थे। जीवन की उच्छल प्राण-धारा में उनका अडिग विश्वास था। जहाँ यह उच्छल प्राणधारा है वहीं मनुष्य का सर्वस्व है, वहीं आशा है। चाहे शिक्षा का क्षेत्र हो, चाहे वाणिज्य-व्यवसाय का, प्राण की उच्छल धारा ही प्रधान वस्तु है। युद्ध-विग्रह का उन्होंने कस के विरोध किया था; क्योंकि यह भय से, मोह से, लोभ से विकृत मानव का उन्माद है। परन्तु तोपों का गर्जन अघटित घटना नहीं है, असंभावित वस्तु नहीं है; मनुष्य जिस रास्ते पर जा रहा है उसका यही परिणाम हो सकता है। राष्ट्रीयता के नाम पर पुंजीभूत गतिहीन-प्राणहीन स्वार्थ-संभार संड़ाध से मनुष्य का मन विकृत हो उठा है। परन्तु निराश वे नहीं होते थे। युद्ध इसी संड़ाध को झाड़ फेंकने का प्रकृतिदत्त उपचार है। युद्ध में यद्यपि मनुष्यता अपार कष्ट में फँस जाती है, पर मरती वहाँ मृत्यु है, जीतता जीवन है। प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के पूर्व ही उन्होने संसार को बारम्बार चेतावनी दी थी कि मनुष्य विनास की ओर बढ़ रहा है। परन्तु युद्ध छिड़ के ही रहा। शायद विधाता के अस्त्रागार में मनुष्य की दुर्दमा लिप्सा और मोह को ध्वस्त करने का दूसरा अस्त्र बचा नहीं रह गया था। सन् १९१४ के पौषोत्सव के प्रवचन में उन्होंने कहा था –

एक बार विचार कर देखो तो सही, हम जब यहाँ आनन्दोत्सव मना रहे हैं, ठीक उसी समय समुद्र-पार मनुष्य के साथ मनुष्य का कैसा दारुण युद्ध चल रहा है। वहाँ आज के इस प्रातःकाल का आलोक क्या दिखा रहा है,— किस भयंकर प्रलय की विभीषिका को ! वहाँ इसी प्रलय की विभीषिका पर खड़ा होकर मनुष्य अपने मनुष्यत्व का प्रचार कर रहा है। वहाँ इतिहास की पुकार अभी है, उस पुकार को सुनकर सब लोग निकल पड़े हैं। किसने गलती की है, किसने नहीं, कौन किस बात के लिए कितना जवाबदेह है, कौन नहीं—दूर रहने दो इस विचार को। किन्तु इतिहास ने पुकारा है यह सही है; उस पुकार को जर्मनों ने सुना है, अँग्रेजों ने सुना है, फ्रान्सीसियों ने सुना है, बेलजियनों ने सुना है, रूसियों ने सुना है। इतिहास के भीतर से इतिहास के देवता अपनी पूजा ग्रहण करेंगे; इस युद्ध में उसी महादेवता का वह उत्सव चल रहा है। यह नहीं होने का कि कोई जाति अपने राष्ट्रीय स्वार्थ को पुंजित करके अपनी राष्ट्रीयता को सँकरी कर दे–इतिहास विधाता का यही आदेश है। मनुष्य राष्ट्रीय-दानव के पद-तल में इतने दिनों से नरबलि का उद्योग कर रहा है, इसलिए आज उस अपदेवता का मन्दिर तोड़ देने का हुक्म हुआ है। इतिहास विधाता कहते हैं—तुम सबको इस स्वार्थ-दानव के मन्दिर की दीवालें तोड़ देनी होंगी, यह नरबलि अब नहीं चलेगी। हुक्म मिलते ही तोप के गोले आकर उस मन्दिर की दीवालों को तड़ातड़ चूर्ण करने में जुट गये हैं। वीरों का दल अपने रक्त-पद्म का अर्घ्य लेकर इस इतिहास-विधाता की पूजा के लिए निकल पड़ा है। जो लोग आराम में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

थे, वे आराम को धिक्कार देकर कहने लगे हैं—प्राणों से चिपके नहीं रहेंगे; मनुष्य के पास प्राणों से भी बढ़कर कोई चीज है। आज तोपों के गर्जन में मानव का जय-संगीत बज उठा है, माताएँ रो उठी हैं, स्त्री-पुत्र अनाथ होकर छाती कूट रहे हैं और इसी क्रन्दन के ढूह पर उत्सव चल रहा है। जिस समय वाणिज्य-व्यवसाय चल रहा था, घर में पैसा भर रहा था, राज्यों और साम्राज्यों को छापकर प्रताप व्याप्त हो रहा था, ठीक उसी समय पुकार आयी—निकल आना होगा। महेश्वर ने जब अपनें पिनाक में रुद्र-टङ्कार भरा है, तब माँ को रोकर कहना पड़ा है, जाओ। स्त्री को रोते-रोते पति को अपने हाथों कवच पहना देना पड़ा है। समुद्र के उस पार आज मरण यज्ञ में यही प्राणों का महोत्सव चल रहा है।

यह रवीन्द्रनाथ का कहने का अपना ढंग है। राष्ट्रीयता के दानव के प्रति उनके मन में बहुत ही कठिन क्रोध था। उन्होंने प्रथम महायुद्ध का कारण इस संकीर्ण राष्ट्रीय भावना को ही समझा था। वे मनुष्य की एकता में विश्वास रखते थे। युद्ध से वे विचलित नहीं हुए थे, क्योंकि उन्हें बहुत पहले ही उसकी काली छाया दिख गयी थी ; परन्तु उन्होंने समझा था कि युद्ध में, चाहे मनुष्य को जितना कष्ट हो, जितनी भी लांछना और गंजना सहनी पड़े, युद्ध का परिणाम अन्ततः मनुष्य की प्रगतिशील शक्तियों की ही विजय होगी। वही जीतेगा जिसमें प्राण की उच्छल धारा का वेग होगा। जो सड़े विचारों और सूखे आचारों से चिपटे हैं वे कितने भी शक्तिशाली क्यों न हों, अपने ऊपर उन्होंने स्वेच्छा से मृत्यु की खाल डाल ली है। मनुष्यता आगे बढ़ेगी, उसे रोकने का प्रयत्न व्यर्थ होगा। उन्हें विश्वास था कि इस विकट संघर्ष के बाद संकीर्णता की दीवाल टूटेगी, मनुष्य में उदारता का संचार होगा। युद्ध में सर्वत्र यह अनुभव किया गया कि संकीर्णता खतरनाक है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

युद्ध के बाद एक होने का प्रयत्न भी किया गया; पर सब व्यर्थ हुआ। क्योंकि मनुष्य ने संकीर्णता के दुःख को तो समझा, पर इतिहास-बिधाता के इंगित को नहीं समझा। रवीन्द्रनाथ ने युद्ध के क्रन्दन और चीत्कार के भी उस इंगित को समझा था, इसीलिए आशा-पूर्ण स्वर में उन्होंने घोषित किया—

आज जो संसार भर में क्रन्दन चल रहा है, उसमें डर का सुर नहीं है; उसके भीतर से इतिहास तैयार हो रहा है। इसी में इतिहास-विधाता का आनन्द है। यह क्रन्दन उन्हीं में शान्त हो रहा है। उन्हीं शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम् के भीतर मृत्यु मर रही है, उन्होंने अपने हाथों मनुष्य के ललाट पर जय-तिलक की टीका लगायी है। वे ही विच्छेद और विरोध के मध्य-स्थल में खड़े हैं। देखो, यात्री जिधर चल पड़े हैं, मृत्यु का झंकार जिधर प्रतिध्वनित है, वहीं विराजमान हैं शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम्। आज उस रुद्र के दक्षिण हाथ का आशीर्वाद ग्रहण करो। रुद्र की प्रसन्न हँसी तभी दिखाई देती है जब वे देखते हैं कि उनकी वीर सन्तान दुःख की परवाह नहीं कर रही है। उसी समय उनके प्रसन्न मुख की हास्यच्छटा विकीर्ण होकर समस्त विश्व को सत्य-ज्योति से अभिषिक्त कर देती है।

रुद्र भयंकर रूप में ही ताण्डव करते रहे; पर जब ताण्डव रुका तो उनका प्रसन्न मुख नहीं दिखाई दिया। संसार से सभी पापों का प्रायश्चित्त नहीं हो सका था। अभी बहुत बाकी था। इतिहास-विधाता का प्रथम इंगित नितान्त व्यर्थ नहीं गया। युद्ध का बुखार जब उतरा तो संसार जैसा था वैसा ही नहीं रहा। नवीन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। पूर्व गगन में भयंकर गंगा के भीतर से नवीन ज्योतिर्लेखा का दर्शन हुआ; परन्तु संसार में जिस अपदेवता के मन्दिर को देखकर रवीन्द्रनाथ इतने विचलित हुए थे उसके मन्दिर की सब दीवालें नहीं टूट सकीं। फिर उनके जीवन-काल में ही नया

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

संघर्ष छिड़ गया। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व उन्हें संसार के बलदृप्त राष्ट्रों के भयंकर लोभ और निरीह राष्ट्रों की दयनीय भीति ने विचलित कर दिया था। वे बीमार पड़े थे, बेहोश हो गये थे ; पर उस बेहोशी में भी उन्हीं लोभ और भय का यह दारुण दृश्य व्याकुल किये रहा। होश में आकर उन्होंने गाया—

जिस दिन मेरा चैतन्य लुप्ति की गुहा से मुक्त हुआ, उस दिन उसने एक दुःसह विस्मय की आँधी के साथ दारुण दुर्योग के बीच मुझे जाने किस नरकाग्निवर्षी ज्वालामुखी के गिरि-गह्वर के किनारे लाकर खड़ा कर दिया! मैंने देखा कि वह ज्वालामुखी तप्त धूम के रूप में मनुष्य का तीव्र अपमान उगलता हुआ फुफकार रहा है, अमंगल ध्वनि से धरा को कम्पित कर रहा है और वायुमण्डल के स्तरों में कालिमा पोत रहा है। (वहीं से) मैंने इस युग की आत्मघाती मूढ़ उन्मत्तता देखी और यह भी देखा कि उसके समूचे शरीर में विकृति का घिनौना परिहास छा गया है, एक तरफ है स्पर्धित क्रूरता, मत्तता का निर्लज्ज हुंकार और दूसरी तरफ भीरुता का दुविधा-भरा पद-संचार, कृपण का छाती से चिपका हुआ सतर्क सम्बल। यह संत्रस्त प्राणी की भाँति क्षणिक गर्जन के बाद तत्काल ही क्षीण स्वर से अपनी निरापद नीरव नम्रता को बता देता है। जितने प्रौढ़ प्रतापशाली राष्ट्रपति हैं, उन सभी ने मंत्र-सभा के मण्डप-तले संशय और संकोचवश अपने समस्त आदेशों और निर्देशों को अधरोष्ठों से दबाकर पीस रखा है। इधर वैतरणी नदी के उस पार से दानव पक्षियों के दल-के-दल क्षुब्ध शून्य से उड़े आ रहे हैं और ये नर-मांस के भुक्खड़ गिद्ध अपने यन्त्ररूपी पक्षों को हुंकारित करके अपवित्र कर रहे हैं।

हे महाकाल के सिंहासन पर बैठे हुए विचारक, मुझे शक्ति दो, मुझे शक्ति दो। मेरे कण्ठ में वज्र वाणी संचारित करो ताकि मैं इस शिशुघाती, नारीघाती कुत्सित वीभत्सता को धिक्कार दे सकूँ— जो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

धिक्कार लज्जातुर इतिहास के हृदय-स्पन्दन में उस समय भी स्पन्दित होता रहेगा जब कि यह रुद्रकण्ठ, भयार्त्त, शृङ्खलित युग चुपचाप अपने चिता-भस्म के नीचे प्रच्छन्न हो गया रहेगा।

कितनी वेदना है इस कविता में! तीन दिन की बेहोशी में कवि ने केवल नरकाग्नि-वर्षी ज्वामुखी को देखा, क्रूरता का मत्त अभियान और भीरुता का संशय-भरा पद-संचार ही अनुभव किया, भुक्खड़ गिद्धों की यन्त्र-पक्षों की कोलाहल ध्वनि ही सुनी। महाकाल के सिंहासन पर बैठे हुए विचारक से उन्होंने दृढ़ कण्ठ-शक्ति माँगी। ऐसी कण्ठ-शक्ति जो शिशुघाती, नारीघाती कुत्सित वीभत्सता को धिक्कार दे सके। उन्हें विश्वास था कि यह वीभत्स हिंसा एक दिन चिताभस्म के नीचे दब जायगी; परन्तु वे व्याकुल बहुत थे। उनकी अनेक कविताओं में इस व्याकुलता का परिचय मिलता है! जीवन भर उन्होंने आशा का सन्देश सुनाया था, क्षमा और दया का मन्त्र सिखाया था। 'जय हो, जय हो, नवीन अरुणोदय की जय हो; पूर्वी आकाश ज्योतिर्मय हो उठे, (महापुरुषों की) अपराजित वाणी, तुम आओ, कस के असत्य पर आघात करो। नाश हो शंका का, नाश हो संशय का! नव जाग्रत प्राण आओ, चिर यौवन के विजयसंगीत तुम आओ, मृत्यु की जीतने-वाली आशा, आओ, जड़ता को विनष्ट करनेवाली आशा आओ। तुम्हारा स्वागत है, क्रन्दन दूर हो, बन्धन क्षय हो!'

ऐसे आशावादी कवि ने मृत्यु के कुछ दिन पूर्व अपने भगवान को पुकार कर कहा—

भगवान तुमने युग-युग में बार-बार इस दयाहीन संसार में अपने दूत भेजे हैं।

वे कह गये हैं—क्षमा करो,

कह गये हैं—प्रेम करो, अन्तर से विद्वेष का विष नष्ट कर दो।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वरणीय हैं वे, स्मरणीय हैं वे,
तो भी आज दुर्दिन के समय उन्हें निरर्थक नमस्कार के साथ बाहर के द्वार से ही लौटा दे रहा हूँ।
मैंने देखा है—गोपन हिंसा ने,
कपट रात्रि की छाया में निस्सहाय को चोट पहुँचाया है,
मैंने देखा है—प्रतीकारविहीन जबर्दस्त के अत्याचार से विचार की वाणी चुपचाप एकान्त में रो रही है,
मैंने देखा है—तरुण बालक उन्मत्त होकर दौड़ पड़ा है, बेकार ही पत्थर पर सिर पटक कर मर गया है;
कैसी घोर यन्त्रणा है उसकी !
आज मेरा गला रुँध गया है, मेरी बाँसुरी का संगीत खो गया है,
अमावस्या की कारा ने मेरे संसार को दु:स्वप्नों के नीचे लुप्त कर दिया है,
इसीलिए तो आँसू भरी आँखों से तुमसे पूछ रहा हूँ—
जो लोग तुम्हारी हवा को विषाक्त बना रहे हैं,
उन्हें क्या तुमने क्षमा कर दिया है ?
उन्हें क्या तुमने प्यार किया है ?

मर्म-वेदना की उक्त वाणी से यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने आशा छोड़ दी थी। उन्हें उन सब वस्तुओं के लिए कोई मोह नहीं था, जो स्वयं मृत्यु का वरण करके तीव्र गति से विनाश की ओर बढ़ रही हैं। मनुष्य ने वास्तविक प्राण-शक्ति की यदि उपेक्षा की है तो वह विनाश के गड्ढे में गिरेगा ही। विधाता की ओर से उसे यह अभिशाप मिल चुका है। और विधाता कौन है ? स्वयं मनुष्य। बहुत-से लोग रवीन्द्रनाथ के राजा, महाकाल, रुद्र, इतिहास-विधाता आदि शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझते। रवीन्द्रनाथ अत्यन्त अविच्छिन्न विचार को भी मूर्त रूप देकर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सोचते थे। इसीलिए उन्होंने उस ऐतिहासिक शक्ति को, जो मनुष्य को नाना रूपों में उपस्थित कर रही है, मूर्त देवता के रूप में देखते थे। मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह इतिहास-विधाता के इंगित को ठीक-ठीक नहीं समझ पाता। प्राण की उपेक्षा करके जीवित रहने की आशा आत्मवंचना है। मनुष्य उस मिट्टी की ओर से विरत होता जा रहा है जो प्राणशक्ति का जीवन्त उत्स है और उस आसमान की ओर ताकने लगा है जो माया है, कुहेलिका है। रवीन्द्रनाथ ने गाया था—अरे भाई मिट्टी की ओर लौट; वह मिट्टी जो आँचल फैलाकर तेरे मुँह की ओर देख रही है, जिसके वक्ष-स्थल को फोड़कर यह प्राणधारा उच्छ्वसित हो रही है, जिसकी हँसी से फूल खिले हैं, जो संगीत के हर तान पर पुकार उठती है। वह देखो इस छोर से उस छोर तक, इस दिगन्त से उस दिगन्त तक उसकी गोदी फैली हुई है। जन्म और मरण उसीके हाथ के अलक्ष्य सूत्रों में गुँथे हैं। उसीके हृदय की विगलित वारि-धारा आत्मविस्मृत हो समुद्र की ओर छूटती है और वहाँ से प्राणों का सन्देश वहन कर लाती है। हाँ भाई, इस मिट्टी की ओर ही लौट आ।

यही आशा है। बाकी सब छलना है, सब माया है। मृत्यु की काली छाया को हटाना है तो प्राण की इस उच्छल धारा की ओर देखो। मनुष्य ने जहाँ कहीं इस प्राणधारा की उपेक्षा की है—साहित्य में, कला में, वाणिज्य में, राजनीति में, विचारों में, आचारों में, सर्वत्र—वहीं मृत्यु की काली छाया स्वयं आ जाती है। प्राण-धारा ठीक रहती है तो बाकी सब कुछ ठीक हो जाता है—अनायास। प्राणधारा दुर्बल हुई तो सब विकृत हो जाता है, हजार प्रयत्नों के बावजूद। साम्राज्य बनते हैं और बिगड़ते हैं; जय-डंका बजती है और रुकती है; विजय-पताका फहराती है और झुकती है; परन्तु जीते हैं वही जो मिट्टी से सम्बद्ध हैं, जो प्राणशक्ति से समन्वित हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अपनी एक कविता में उन्होंने इस बात को इस प्रकार कहा है—

अलस समय की धारा में बहता हुआ मन ।
शून्य की ओर ताकता हुआ चला जा रहा है ।
उस महाशून्य के मार्ग में छाया के अंकित चित्र दिखाई दे रहे हैं ।
जमाने से दल के दल जन-समूह
सुदीर्घ अतीत काल में
जयोद्धत प्रबल गति से आये हैं और चले गये हैं ।
आये हैं साम्राज्यलोभी पठान,
आये हैं मुगल,
उनके विजय-रथ का पहिया धूल उड़ाता रहा,
उनकी विजय-पताकाएँ फहराती रही हैं ।
सूने मार्ग की ओर देख रहा हूँ,
आज उनका कोई चिह्न नहीं ।
युग-युग में प्रभात और संध्या-कालीन
सूर्योदय और सूर्यास्त के रंगीन प्रकाश
उस निर्मल-नीलिमा में चमकते रहते हैं ।
दूसरी बार, उसी शून्य के नीचे आये हैं झुण्ड के झुण्ड,
लौहबद्ध मार्ग से, अनल-निःश्वासी रथ पर
प्रबल अँग्रेज,
विकीर्ण कर दिया है अपना तेज,
जानता हूँ काल उनके रास्ते से भी निकल जायेगा,
बहा देगा साम्राज्य का विजयग्रासी जाल
न जाने किस ओर ।
जानता हूँ ज्योतिष्क लोक के मार्ग में
उनकी पण्यवाही सेना का लेश मात्र
मिट्टी की पृथ्वी की ओर जब दृष्टि फेरता हूँ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तो देखता हूँ, वहाँ कल-कल रव करती हुई विपुल जनता
चली जा रही है नाना पथों के नाना दलों में
युग युगान्तर से मनुष्य के नित्य प्रयोजन के कार्यों में
जीवन में, मरण में।
वे चिरकाल रस्सी खींचते हैं, पतवार थामे रहते हैं,
वे मैदानों में बीज बोते हैं, पका धान काटते हैं;
वे काम करते हैं,
नगर में और प्रान्तर में।
राज-छत्र टूट पड़ता है,
रण-निनाद बन्द हो जाता है,
विजय-स्तम्भ मूढ़ की भाँति अपना अर्थ भूल जाता है।
लहूलुहान हथियारों के साथ सभी लहूलुहान आँखें
शिशु-पाठ्य कहानियों में मुँह ढाँपे रहती हैं।
वे काम करते हैं
देश में और देशान्तर में,
अंग-बंग-कलिंग में,
समुद्रों और नदियों के घाट-घाट में,
पंजाब में, बम्बई में, गुजरात में।
उनके गुरु गर्जन और उनके गुन-गुन स्वर
दिन-रात में गुथे रहकर दिन-यात्रा को मुखरित किये रहते हैं;
मन्द्रित कर डालते हैं
जीवन के महामन्त्र की ध्वनि को।
सौ-सौ साम्राज्यों के भग्नावशेष पर
वे काम किये जा रहे हैं।

—यही मनुष्य की आशा है। यहीं वह मिट्टी से बिछुड़ा नहीं है। यहीं उसकी प्राणधारा अबाध गति से वह रही है। रवीन्द्रनाथ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ने यही विश्वास जमाया था, यहीं उन्होंने जीवन्त सौन्दर्य देखा था। क्योंकि, यहीं प्राणों की अनाबिल धारा का प्रवाह है। मिट्टी की ओर ही उन्होंने देश के अपरिक्व करुणों को पुकारा था; क्योंकि यद्यपि वे अपरिपक्व हैं, पर उनमें प्राणधारा है। उन्होंने कहा था—

चलना न चाहती मिट्टी की सन्तानें
पग रख मिट्टी पर (उसे अशुचि ये माने)!
अपनी अपनी उनकी हैं बास मचाने
जिनपर अडोल आसन बाँधे वे सुस्थिर।
आ रे अशान्त आ, अपरिपक्व, आ अस्थिर!
सब तुझे रोकना चाहेंगे भरसक वे
सोचेंगे देख प्रकाश नया औंचक वे —
यह कैसा अद्भुत काण्ड आज दिखता रे!
पाकर तेरा संघात खीझ जायेंगे,
शयनीय छोड़ निज दौड़-दौड़ आयेंगे ;
इस अवसर पर निद्रा से जग जायेंगे—
फिर गुत्थमगुत्थी सत्य और मिथ्या की!
आ रे प्रचण्ड, आ अपरिपक्व एकाकी।

देश के युवकों में उनका अखण्ड विश्वास था। मिट्टी, कार्य, औदार्य और छलकती प्राणधारा—यही चिरन्तन सौन्दर्य के मूल उत्स हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

साहित्य की साधना

आज साहित्य मनुष्य के अन्य प्रयत्नों से विच्छिन्न और अपने-आपमें स्वतंत्र वस्तु नहीं रह गया है। विभिन्न संघर्षों की चिनगारियों से वह अपने को बचा नहीं सका है और स्वयं संघर्ष का साधन बनने लगा है। जो लोग प्राचीन सरस साहित्य के मर्मज्ञ हैं, जिन्होंने उदार कल्पनाओं और विदग्ध वापियों के जादू-भरे उद्यान में शान्ति की साँस ली है, वे आज के साहित्यकों की दौड़-धूप और व्यस्तता को देखकर हैरत में आ गये हैं। वे आश्चर्य से देखते हैं कि आज न जाने कौन-सा पागलपन इन साहित्यिकों पर सवार है कि वे हर चिथड़े को बटोर लेना चाहते हैं और गर्व के साथ घोषणा करना चाहते हैं कि वे इन चिथड़ों में आग लगाकर ही दुनिया को रोशनी देंगे। जिन लोगों को प्राचीन साहित्य के रसमय लोक में घूमने का अवसर नहीं मिला, वे भी कम आश्चर्य में नहीं हैं। अपनी बात को अधिक स्पष्ट भाषा में न कहकर वे उदासीनता के साथ कहते हैं—जमाना बड़ी तेजी से भागा जा रहा है। परन्तु कम लोग ही सोचते हैं कि उनके कहने का मतलब क्या है। जमाना कोई पागल ऊँट नहीं है कि वह तेजी से भाग खड़ा होगा। आखिर जमाने के भागने का मतलब क्या है? मतलब बहुत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्पष्ट भी नहीं है। जीवन के विभिन्न मूल्यों में नित्य परिवर्तन हो रहे हैं। कल जिसको मनुष्य नगण्य समझता था, आज उसका दाम बढ़ गया है। कल जिसका दाम बहुत अधिक था, आज उसे कोई पूछता नहीं। किसी जमाने का सुसंस्कृत समझा जानेवाला व्यक्ति वंश-विशेष में उत्पन्न दूसरे व्यक्ति को छू लेने पर गंगास्नान करना आवश्यक समझता था, परन्तु आज ऐसा आचरण करनेवाला व्यक्ति असंस्कृत माना जाने लगा है। यही एक उदाहरण नहीं, ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। हर समय मनुष्य इन बदलते हुए मानों के प्रति सचेत नहीं होता। सबकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म भी नहीं होती कि बदलनेवाली गति को पहचान सके। पर एक दिन बदली हुई प्रवृत्ति मन छोड़नेवाली परिस्थिति के रूप में सामने आ जाती है, तो आदमी लाचार होकर कह उठता है, जमाना बड़ी तेजी से बदल रहा है!

साहित्य की दुनिया में भी इन बदलते हुए मानों ने उत्पात मचा रखा है। कठिनाई यह है कि साहित्यिक—यदि वह सचमुच ही साहित्यिक है—औसत आदमी की अपेक्षा कुछ पहले ही इन परिवर्तनमान मूल्यों का अन्दाज लगा लेता है। आजकल साहित्य केवल सहृदयों की आलोचना और रसास्वादन की वस्तु नहीं रह गया है। छापे की मशीनों ने इसमें भी प्रजातान्त्रिक गन्ध पैदा कर दी है। अनिवार्य शिक्षा आवश्यक मान ली गयी है। उसके साथ-ही-साथ समूची जनता को साहित्य की शिक्षा देने का व्रत भी ले लिया गया है और उस व्रत को कार्यान्वित करने के लिए साहित्य-शिक्षकों की भारी-भरकम पलटन भी तैयार हो रही है। यह अब आवश्यक हो गया है। इसको अब कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यह भी जमाने की तेज रफ्तार है; अर्थात् महाकाल देवता के अप्रतिरोध्य रथचक्र का निर्मम संचालन है, जिसमें कोई ममता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नहीं है, कोई दया नहीं है, मनुष्य के कोमल मनोभावों के प्रति कोई आसक्ति नहीं है, कल्पना और भावुकता के द्वारा रचे हुए लोकों के प्रति कोई भावालुता नहीं है। वह तेजी से दौड़ा जा रहा है और जो भी उसके पहिए के नीचे आ जाता है, उसे चूर्ण-विचूर्ण करता हुआ आगे बढ़ रहा है—अनिवार्य शिक्षा हो करके ही रहेगी, साहित्य के शिक्षकों की सेना भी भर्ती होकर ही रहेगी और हम मानें या न मानें, हमें अच्छा लगे या बुरा लगे, साहित्य भी सर्वजन की सम्पत्ति होकर ही रहेगा। ऐसी अवस्था में ऐसे साहित्य के समालोचक भी पैदा होंगे, जो सच्चे साहित्यिकों की अनुभूति को साधारण औसत आदमी की तरह ही ठीक से न समझकर उदासीनता से कह देंगे—जमाना है। जो लोग इनमें कुछ अधिक कार्यपटु होंगे, वे इतने से ही सन्तोष न करके इन प्रयत्नों को बुरा-भला भी कहेंगे। परन्तु महाकाल का रथ इनकी ओर दृग्पात नहीं करेगा। निरन्तर बदलते हुए मानवीय व्यापारों का मूल्य कहानीवाले बखान की तरह से अपनी गति से आगे ही बढ़ता जायगा।

लेकिन कठिनाई यहीं नहीं समाप्त हो जाती। साहित्यिकों में भी पंख खोंसकर बने हुए मोरों की कमी नहीं है। प्रजातान्त्रिक साहित्य में यह होगा ही। हवा में उड़ते हुए विचारों को आत्मसात् किये बिना आधुनिक बनने का प्रयत्न बराबर ही होता रहा है; आज भी हो रहा है। यूरोप में मनोविश्लेषण-शास्त्र की नयी थ्योरी निकलती है और हिन्दुस्तान का अधकचरा साहित्यिक उसको खाकर बिना पचाए ही वमन कर देता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती कि वह जो-कुछ कहने जा रहा है, वह उसका कहाँ तक अपना है, कहाँ तक उसे वह 'सहज' बना सका है। उसे केवल आधुनिकता का नशा है और किसी प्रकार वह पाँचों सवारों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

में नाम लिखाना चाहता है। मुझे खुशी है कि हमारे साहित्य में केवल ऐसे अधकचरे लोग ही नहीं हैं; बल्कि ऐसे भी कृती हैं, जिन्होंने इन सिद्धान्तों का मन्थन किया है, इन्हें पचा लिया है और सहज भाव से इन्हें अपना बना लिया है। जब ऐसे सच्चे साहित्यकार इन सहज बातों को सहज ढंग से कहने लगते हैं तो उसकी दीप्ति छिपती नहीं है। जैसे पचे हुए भोजन की आभा चेहरे पर कान्ति के रूप में प्रकट होती है, उसी प्रकार इन साहित्यकारों के नवीन विचार इनके साहित्य में नवीन कान्ति का रूप धारण करते हैं। वे साहित्य-लक्ष्मी के सौन्दर्य में नये आभरण का योग देते हैं। परन्तु इनकी संख्या साहित्य में बहुत कम है। अधिकतर उन्हीं लोगों ने विशिष्ट स्थानों पर अधिकार कर रखा है, जिनका भोजन पचा नहीं है और जो केवल खट्टी डकारों से वायु-मण्डल को दूषित कर रहे हैं।

ज्ञान का सहज बनना बहुत आवश्यक है। यदि आपके लिखने में आपका सुचिन्तित मत उसी प्रकार सहज गति से आ रहा है जिस प्रकार माता के दूध में पौष्टिक तत्त्व अनायास आ जाते हैं तो कोई परवाह नहीं। आज के युग में उस लेखक की कोई कीमत नहीं जिसका कोई अपना मत न हो। मत का होना बुरी बात नहीं है। सचाई के साथ अपने विश्वासों को कह देना भी बुरा नहीं है। परन्तु इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि आज के साधन-सम्पन्न युग में सभी प्रकार की बातों का फैलना आसान हो गया है। यदि असावधानी से जल्दी में निर्णय किया हुआ मत या उधार लिया हुआ मत हम प्रचारित करने लगें तो सामाजिक अमंगल की आशंका है।

हमारे देश में साहित्यकारों की एक बड़ी भारी अनुकरणीय परम्परा हमें विरासत में मिली है। वह है ज्ञान के प्रति गम्भीर निष्ठा

९

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की परम्परा। 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'—ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है। एक बार जो व्यक्ति ज्ञान की साधना का व्रत लेता है वह पवित्र साधना का व्रत लेता है। उसे भीतर और बाहर से शुचि होकर इस क्षेत्र में आना चाहिए। साहित्य केवल मन की उमंग में आया हुआ मानसिक उल्लास-मात्र नहीं है। वह एक पवित्र कर्तव्य है। उसे लिखकर मनुष्य वर्तमान और भावी पीढ़ियों को प्रभावित करना चाहता है।

पिछले कुछ वर्षों के हमारे साहित्यकारों के चित्त में जो घोर मन्थन हुआ है उसके फलस्वरूप कोई बड़ी कृति लिखी गयी है या नहीं, इसका उत्तर भविष्य ही देगा। परन्तु एक बात निश्चित-सी लग रही है कि लड़ते-झगड़ते हम लगभग एक निश्चित निर्णय तक पहुँच सके हैं। साहित्यकारों ने यह अनुभव किया है कि हमारे लिखने का लक्ष्य सामाजिक 'मनुष्य' का मंगल-विधान है। मनुष्य एक है। विषमताएँ मनुष्य-मात्र को प्रभावित करती हैं। सारी मनुष्य जाति को अखण्डनीय और अविच्छेदनीय 'एक' मानकर ही हम उस सामाजिक मंगल का मार्ग सोच सकते हैं जिसे उपलब्ध किये बिना मनुष्यता का त्राण नहीं है। हमने 'मनुष्य' को—सामाजिक मनुष्य को—इसी मर्त्यलोक में सुखी और समृद्ध, अज्ञान और परमुखापेक्षिता से मुक्त बनाने के महान् सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। व्यक्तिगत संस्कारों और रुचि के कारण हमारे भीतर मतभेद बहुत हैं। पर आज के किसी साहित्यकार से यदि आप कहें कि उसकी रचना सामाजिक मंगल के आदर्श से च्युत है तो वह लज्जित अवश्य होता है। और प्रतिवाद करने का प्रयत्न करता है। लजाना बड़े तत्त्व को स्वीकार करने का लक्षण है।

आज साहित्य को केवल कल्पना-विलास की सामग्री समझना खतरनाक है। नवीन साहित्यकारों को ज्ञान-विज्ञान के सभी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

क्षेत्रों से रस-संग्रह करने की आवश्यकता है। ज्ञान-विज्ञान—जो देश और काल में व्याप्त है। कबीरदास ने ऐसे ही साधक को शूर कहा था जो आठों पहर मस्त बना रहता है और अतीत और वर्तमान में संचित और होनेवाली ज्ञान-राशि का सार भाग ग्रहण करता है, उसे सहज बनाकर दुनिया को देता है। जो ऐसा नहीं कर सकता उसकी साधना अधूरी है। नवयुग के साहित्यकारों को इस तत्त्व को बराबर स्मरण रखना चाहिए—

आठहू पहर मस्तान माना रहे
आठहू पहर की छाक पीवे,
कहै 'कबीर' सोइ सन्तजन सूरमा
काल निचोड़ि के अमृत पीवे ॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पुण्य पर्व

स्वतन्त्रता दिवस का पुण्य पर्व हर वर्ष आ जाता है। और यह विचारने का अवसर देता है कि हम एक साल के भीतर सच्ची स्वतन्ता की ओर कितना अग्रसर हुए हैं। जिस समय यह लेख लिखा जा रहा है उस समय स्वाधीनता पाये ६ वर्ष बीत गये हैं। आज यह सोचना कष्टकर मालूम होता है कि हम अभी विचारों के क्षेत्र में बँधे ही हुए हैं।

अंग्रेजी में हम 'इंडिपेंडेंस' शब्द का व्यवहार करते हैं, जिसका मतलब 'अनधीनता' है; परन्तु देशी भाषाओं में सर्वत्र 'स्वाधीनता' या 'स्वतन्त्रता' शब्द का व्यवहार होता है। स्वतन्त्रता या 'स्वाधीनता' शब्द में अपने अधीन रहने की बात है! यह 'इंडिपेंडेंस' की अपेक्षा अच्छा शब्द है; क्योंकि इसमें अपने आपको अपने ही वश में रखने की इच्छा का प्राधान्य है। क्या हम सब प्रकार से अपने को अपने नियंत्रण में रखने में समर्थ होते जा रहे हैं? निस्सन्देह भारत को संसार में अधिक आदर-पूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। भीतरी मामले में हम कहाँ तक अपने को अपने वश में रखने में समर्थ हुए हैं, यह ठीक-ठीक बता सकना कठिन है। ऊपर-ऊपर से लगता है कि इस दिशा में हम बहुत अधिक अग्रसर नहीं हुए हैं। न तो हम अन्न-वस्त्र के विषय में 'स्वाधीन' हुए हैं और न हमारे अन्दर नैतिक उन्नति के कोई लक्षण ही दिखाई दे रहे हैं। जनता अपने वास्तविक अधिकारों के प्रति उद्बुद्ध हुई हो, ऐसा नहीं लगता; लेकिन यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ऊपर-ऊपर की ही बात है। इसकी वास्तविक परीक्षा संकट-काल में ही होगी। उसी समय यह मालूम होगा कि हम कहाँ तक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को जनहित के लाभ पर त्याग सकते हैं।

कुछ बातों में हमारे देश ने अद्भुत उन्नति की है। संसार में इसकी प्रतिष्ठा बढ़ी है। हमारी परराष्ट्र नीति बहुत प्रशंसित हुई है। संविधान बनाने में और तदनुसार निर्वाचन करने में हमारे देश ने संसार को चकित कर दिया है। बाह्य उन्नति की गति भी बुरी नहीं है।

परन्तु हमारे सोचने-समझने के ढंग में कोई विशेष परिवर्तन के लक्षण नहीं दिखाई दिये। विदेशी भाषा में सोचने और कार्य करने के अभ्यस्त देशवासियों में देशी भाषा के माध्यम से सोचने और कार्य करने का उत्साह नहीं दिखाई दे रहा है। कुछ लोगों में तो प्रतिक्रिया की मात्रा बढ़ गयी है और यह कहने लगे हैं कि अंग्रेजी भाषा के हटते ही हम अनाथ हो जायेंगे और हर क्षेत्र में हमारा मान नीचा हो जायगा। अपने संविधान में हमने अपना यह संकल्प प्रकट किया है कि हमारे राष्ट्र की राज-भाषा हिन्दी होगी और प्रादेशिक भाषाओं को भी प्रोत्साहन दिया जायगा। किन्तु जो लोग देशी भाषाओं के प्रचलन के पक्षपाती समझे जाते हैं, उनमें भी आत्मविश्वास की कमी दिखाई दे रही है। जहाँ तेजी से अपनी भाषा में काम शुरू करना उचित था, वहाँ भी ढिलाई दिखाई दे रही है। सर्वत्र एक प्रकार की दुविधा और अनिश्चय का बोलबाला है। जो लोग हिन्दी में या अन्य देशी भाषा में लिख-बोल सकते हैं, वे भी कभी-कभी ऐसा करते अब संकोच अनुभव करते देखे गये हैं। प्रतिष्ठित लोग भी अपनी भाषा-लिपि में हस्ताक्षर करने में हिचकते हैं। कम-से-कम हस्ताक्षर करने में तो कोई बाधा नहीं है। अंग्रेजी में भी जो लोग हस्ताक्षर करते हैं उनके अक्षर सब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

समय पढ़े नहीं जाते। फिर अपनी लिपि में हस्ताक्षर करने में क्या बाधा हो सकती है। स्पष्ट ही इस क्षेत्र में हम 'स्व' के अधीन नहीं हो सके हैं। ऐसा होने की ओर हमारा उत्साह भी मन्द ही है।

इससे ऊपर के विचार-क्षेत्र में भी 'स्व' की प्रतिष्ठा नहीं हो पायी है। विश्वविद्यालयों में देशी भाषा को माध्यम के रूप में स्वीकार करने में भी एक प्रकार की हिचक अनुभव की जा रही है। और जब इस ओर प्रयत्न किया जाता है तो अधिकांश में हमारी बुद्धि अनुवाद करने और विदेशी शब्दों के तौल के शब्द गढ़ने की प्रवृत्ति तक आकर रुक जाती है। विश्वविद्यालयों के अधिकारी अनूदित पुस्तकों से सन्तुष्ट नहीं हैं। अच्छे अनुवादों को प्रोत्साहन देने की बात भी उठती है। लेकिन हमारे विद्वानों में मौलिक ग्रंथ लिखने की प्रवृत्ति पिछले वर्ष में कुछ अधिक हुई है या नहीं, कह सकना कठिन है। शायद नहीं हुई। हमारे प्रकाशकों ने क्या इस क्षेत्र में कुछ विशेष उत्साह दिखाया है? सन्देह ही है।

सब मिलाकर हमारे प्रयत्न इस दिशा में ऐसे नहीं हैं, जिन्हें बहुत उत्साहपूर्ण कहा जाय। हम इस क्षेत्र में 'स्व' की प्रतिष्ठा तो नहीं ही कर सके हैं, अधिकाधिक 'पर' मुखापेक्षी होते जा रहे हैं।

साहित्य में नये विचार आते जा रहे हैं; पर उन्हें भी 'स्व' की महिमा से बहुत थोड़ा मण्डित किया गया है। यह कम अनुभव किया गया है कि हमारा देश अब स्वाधीन है और हमें सारे संसार को उसकी समूची विचारधारा के साथ समझना है। जब तक साधारण जनता संसार के भिन्न-भिन्न भागों के निवासियों और उनकी समस्याओं से परिचित नहीं हो जाती, तब तक वह ऐसी सरकार चुनने में असमर्थ ही रहेगी जो इस जगत के बढ़ते हुए संघर्ष के अनुकूल चल सके। देश की भाषा में देशवासियों के अनुकल बनाकर कितनी ऐसी पुस्तकें लिखी गयी हैं जो संसार की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

समस्याओं के साथ उन्हें परिचित करा सकें? इस विषय में सरकारों की ओर से भी कम ही प्रयत्न हुए हैं। प्रयत्न की कमी इस बात का प्रमाण है कि अभी सरकार को जनता पर आश्रित नहीं माना जाता। कम-से-कम यह अनुभव तो नहीं ही किया जा रहा है कि जनता ही मुख्य है, सरकार गौण।

निस्सन्देह साहित्य-क्षेत्र में नये विचार प्रवेश कर रहे हैं। हमारे सोचने-विचारने के ढंग में भी परिवर्तन हो रहे हैं। धीरे-धीरे जनता 'स्वतः प्रमाण' मानी जानेवाला पोथियों की ओर से अनजान में ही दूसरी ओर हटती जा रही है। कारण अनेक हैं। पिछल शताब्दी के वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और अन्य शास्त्री खोजों ने धीरे-धीरे जन-चित्त को प्रभावित किया है। साधारणतः ऐसी अनेक बातों पर से जनता का विश्वास उठता जा रहा है जिन्हें पिछली शताब्दी में बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता था। परन्तु हमने 'स्व' की 'अधीनता' प्राप्त करने के बाद इस बात का प्रयत्न नहीं किया कि इन परिवर्तनों की ठीक-ठीक छान-बीन करें। किस ओर किस मात्रा में परिवर्तन हो रहे हैं और हमारे देश के विशाल 'स्व' की हितदृष्टि से ये कहाँ तक वांछनीय हैं? हमारे पुराने 'मान' (वल्यूज) बदल रहे हैं, वे बदलेंगे ही; परन्तु राजनीतिक पराधीनता से मुक्ति पाने के बाद देशवासियों की जो अवरुद्ध शक्ति उद्बुद्ध हुई है उसका ठीक-ठीक हिसाब हमने नहीं लगाया। वह शक्ति किधर जा रही है, इसका कोई वैज्ञानिक अनुसंधान नहीं हुआ। अधिक-से-अधिक अनुमान के बल पर हम कुछ कह जाते हैं। वस्तुतः मनुष्यता, समता और स्वाधीनता के सिद्धान्त का प्रचार प्रचारकों के द्वारा उतना नहीं हुआ है, जितना भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक विशेषताओं के सुलभ होने और आर्थिक अवस्थाओं की उलट-पुलट के उत्थान होने से हुआ है। इस बात की आवश्यकता है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कि हम अपनी शक्ति के बारे में सजग रहें। यदि हम बिना कारण-कार्य की शृंखला का अध्ययन किये ही संस्कारवश पुरानी मान्यताओं के आधार पर देश के नैतिक उत्थान की बात सोचते गए तो अन्त तक पछतावा ही हाथ रहेगा। जो शक्तियाँ नीचे से और अज्ञात भाव से देश की जनता को प्रभावित कर रही हैं उनका ठीक-ठीक ज्ञान रखकर ही हम देश में 'स्व' की महिमा प्रतिष्ठित कर सकते हैं।

सौभाग्यवश हमारे देश का इतिहास बहुत विशाल है और मनुष्य के जीवन में आ सकनेवाली सैकड़ों तरह की बाधाओं का उसे अनुभव है। परन्तु यदि हम समूची जनता को ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न करें और केवल उसके एक भाग—चाहे वह कितना ही शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण क्यों न हो—के इतिहास का देश का इतिहास समझते रहें तो हम समस्या का ठीक-ठीक अन्दाजा नहीं लगा सकेंगे। सैकड़ों जातियों और उपजातियों में विभक्त, अनेक प्रकार की भाषाओं में अपनी आशा-आकांक्षा को रूप देनेवाली, सभ्यता की विभिन्न सीढ़ियों पर खड़ी, इतिहास के स्रोत में बहते हुए बहुविध संस्कारों को ढोती हुई यह विशाल जनता ही भारतवर्ष का 'स्व' है। इस पुण्य तिथि को हमें यह स्मरण कर लेने की आवश्यकता है कि सम्पूर्ण जनता की समस्या ही हमारी समस्या है, यही सरकारों को बनाने-बिगाड़नेवाली शक्ति है और इसकी ओर सम्पूर्ण भाव से न देखना हमारी 'स्व' प्रतिष्ठा का बाधक है। जिन लोगों ने इस महान् जनसमूह की सेवा की वृत्ति स्वीकार की है, उन्हें विशेष भाव से यह बात स्मरणीय होनी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE